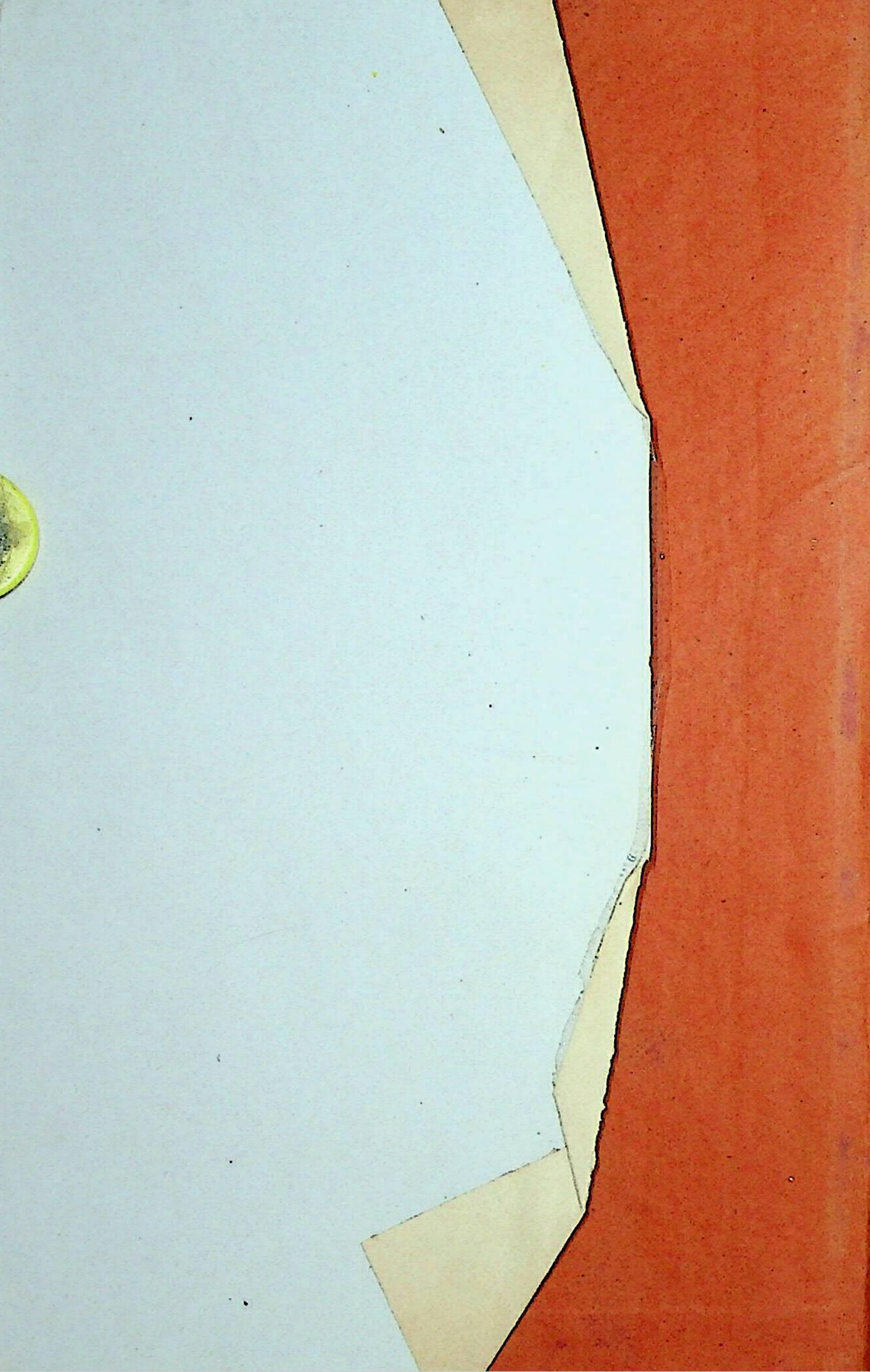


# वामनावतरणम्

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः



# वामनावतरणम्

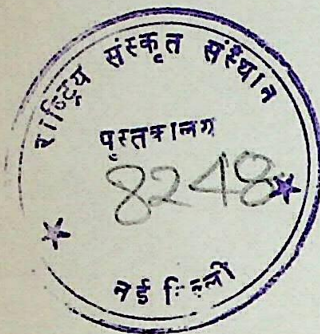
।। लोकतन्त्रादर्शभूतं प्रत्यग्रमहाकाव्यम् ।।

अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र
आचार्य, संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला–(हिमाचल प्रदेश)




अक्षयवट प्रकाशन
इलाहाबाद

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार ( शिक्षा विभाग ) द्वारा प्रदत्त
आर्थिक सहायता से प्रकाशित




वामनावतरणम्

• लेखक :
© अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र

• प्रथम संस्करण : १९९४

• मूल्य : ४४/-

• प्रकाशक :
अक्षयवट प्रकाशन
२६, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद—२

• मुद्रक :
शुभचिन्तक प्रेस
३१३, छोटी वासुकी, दारागंज
इलाहाबाद—६

# पुरोवाक्

वामनावतरणम्, जानकीजीवनम् के अनन्तर प्रकाशित होने वाला मेरा दूसरा महाकाव्य है। परन्तु सहृदय पाठकों को बताना चाहूँगा कि इस महाकाव्य की रचना का उपक्रम, जानकीजीवनम् से बहुत पूर्व ही हो चुका था। उन दिनों मैं स्वान्तः सुखाय श्रीमद्भागवत महापुराण के पारायण में दत्तचित्त था। मेरा अध्ययन कई प्रकार का था। ललित श्लोकों तथा शब्दावलियों का संग्रह करते रहना तो मेरी विद्यार्थी-जीवन से ही चली आ रही कमजोरी थी। सो तो मैं करता ही था। इसके अतिरिक्त, परमानन्द माधव के वाग्विग्रहभूत इस महापुराण में अनुस्यूत शाश्वत जीवनमूल्यों पर भी मेरी दृष्टि केन्द्रित थी।

मेरे पूज्य पितृव्यचरण प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र (पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) कुलपरम्परा से परमभागवत रहे हैं। भागवत के कुछ सन्दर्भ उनके संस्कारों में रच-बस गये हैं जैसे प्रह्लाद एवं ध्रुव के विष्णुस्तवन, बलिनिग्रह एवं गोपियों के प्रति उद्धव का अनिर्वचनीय श्रद्धाभाव आदि। मैंने विविध वार्ताक्रमों में, इन सन्दर्भों की अत्यन्त हृदयावर्जक, प्रसुप्त-संवेदनोद्घाटिनी तथा मर्मस्पर्शी व्याख्या उनके मुँह से अनेकशः सुन रखी थी। इसी पूर्वानुभव के कारण, श्रीमद्भागवत-पारायण की अवधि में बलि-वामन कथाप्रसंग आते ही मैं सावधान हो उठा।

वामनावतरण का साकल्येन अध्ययन करने के बाद एक अभूतपूर्व परितोष का अनुभव हुआ। देव तथा मर्त्य संस्कृति की समरूप संवेदना का भान होते ही मृत्यु का भय समाप्त सा हो गया। ऐसा लगा।जैसे देवता और मनुष्य के बीच 'मृत्यु' एक मात्र परिखा है जिसे पार कर बड़ी सरलता से देवत्व प्राप्त किया जा सकता है। यह भी अनुभव हुआ कि देवताओं की समस्याएं मानव से भिन्न नहीं हैं। उन्हें भी रूप-सौन्दर्य की तृषा और भूख उद्भ्रान्त करती है। उन्हें भी शत्रुभय विचलित एवं पीड़ित करता है। राजमाता मीनलदे ही पुत्र सिद्धराज जयसिंह के लिए चिन्तित नहीं होती प्रत्युत विस्थापित तथा उपद्रुत पुरन्दर के लिए अदिति भी क्लान्त एवं विपन्न होती

है। महामति चाणक्य ही अपनी राजनयिक प्रज्ञा के बल पर चन्द्रगुप्त को उत्तरापथ का भारत-सम्राट् नहीं बना देता है प्रत्युत भगवान् त्रिविक्रम भी ऐश्वर्य-प्रतापच्युत शचीपति को पुनः देवसाम्राज्य के शास्तृ-पद पर अधिष्ठित करते हैं। इन अनुभवों की प्रत्यग्रता के साथ ही, कविकुलगुरु कालिदास की इन पंक्तियों का अभिप्रेतार्थ भी विशदतर प्रतीत होने लगा—

'तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः समन्तात्
त्वमपि विततयज्ञैर्वज्रिणं प्रीणयस्व !!'

संस्कृत-वाङ्मय में प्रतिष्ठापित देव तथा मर्त्य संस्कृति का यह मञ्जुल समन्वय न समझ पाने के ही कारण विदेशी तथा विदेशीनुमा देशी अध्येताओं को बड़ी कुण्ठा हुई है और इसी आत्म-अशक्तिजन्य कुण्ठा ने उनके मन में अनेक दिव्य कथाओं तथा चरितों के प्रति अश्रद्धा, आशंका तथा अविश्वास का भाव सिरजा है। उन्हें यह समझ में ही नहीं आता कि जलधारा बन कर बहने वाली गंगा राजर्षि शान्तनु की प्रिया और कुमार देवव्रत (भीष्म) की माँ कैसे हो सकती है? अथवा वनस्पतियों एवं शिलासञ्चयों से ओत-प्रोत एक निर्जीव पर्वत हिमाचल भगवती गौरी का पिता तथा देवाधिदेव शिव का श्वसुर भला कैसे बन सकता है? प्रत्यक्ष-मात्रप्रत्ययी उन अध्येताओं की इस व्यथा-कथा का कोई अन्त नहीं है। वे शरीरवादी हैं। उन बेचारों को इस शरीर में केवल हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख, मुँह आदि हीं दिखाई पड़ते हैं। उन्हें इन अंग-प्रत्यंगों के स्थान पर 'पञ्चतत्त्व' के दर्शन नहीं होते। पञ्चतत्त्व-दर्शन के लिए तो विवेक ख्याति तथा आत्मदृष्टि की अपेक्षा होती है जो उनके पास है ही नहीं।

इसीलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन करना तथा उस वाङ्मय के अमृतरसायन का असीम तृप्ति का अनुभव करना—सबके वश की बात नहीं है। संस्कृत में उपनिबद्ध देवचरित का अनुशीलन मानव बुद्धि से करना कोरी बकवास मात्र है। यह शेक्सपीयर का मञ्चप्रयोग नहीं है जिसमें चुड़ैलें (witches) अवतरित होती हैं विस्मय-विमुग्ध करने वाली भविष्यवाणियों के लिए! यह कविकुलगुरु कालिदास का विक्रमोर्वशीय है जिसमें एक अनिन्द्य सुन्दरी देवाङ्गना (उर्वशी) स्वतः समर्पित हो उठती है एक ऐसे मर्त्यकोटिक नायक पर जिसका अलंकार है अनुत्सेक! और जो असीम बल-वीर्य सम्पन्न दानव (केशी) के भी हाथ से उसे खेल-खेल में छुड़ा लेता है। राजर्षि पुरुरवा तथा देवाङ्गना उर्वशी की कथा चाहे कितनी ही मिथकीय हो, अतिमानवीय प्रभामण्डल से आलोकित हो

—परन्तु न ही वह अविश्वसनीय प्रतीत होती है और न ही मनोरञ्जन मात्र के लिये सायास कल्पित ! उर्वशी देवलोक में अप्सरा रही होगी, इन्द्रसभा की नर्तकी रही होगी ! परन्तु भारत-धरित्री के प्राङ्गण में तो वह चन्द्रवंश की अधिष्ठात्री 'राजमाता' के ही रूप में समर्चनीय रही। हजारो वर्ष बाद स्वर्ग की यात्रा करने वाले उसी के वंशज वीर अर्जुन ने भी 'उर्वशी' को 'ममतामयी वंशजननी' के ही रूप में देखा !

महान् शायर इकबाल ने कहा था न—'यूनान मिस्र रोमाँ सब मिट गये जहाँ से' ! परन्तु उन्होंने उनके मिटने का कारण नहीं बताया ! कारण यही था कि इन संस्कृतियों ने केवल भोग्य वस्तुओं के निर्माण में अपनी शक्ति लगाई—बड़े-बड़े राजमहल, दुर्ग, नगर, उद्यान, पेय, भक्ष्य तथा आमोद-प्रमोद ! परन्तु भारत ने भोग्य-वस्तुओं के साथ ही साथ भोग करने वाले 'चरितों' का निर्माण किया ! यही कारण है हमारी 'हस्ती' (अस्तित्व) नहीं मिट पाई। हमने सदैव मर्त्यचरितों का निर्माण किया। ऐसे उदात्त एवं लोकोत्तर चरित जिनका प्रत्युदाहरण मिलना असम्भव है—सत्यसन्ध हरिश्चन्द्र, प्रतिज्ञाभीरु दशरथ, अतिथिदेव रन्तिदेव, दानव्रती दधीचि एवं कर्ण, प्रणयव्रती रुरु (एवं प्रमद्वरा) क्षमाशील ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, विसंवादी परिस्थितियों मे संघर्षों से जूझती, नारी-शीलसमुदाचार की प्रतिमूर्ति पञ्चकन्याएँ (अहल्या, मन्दोदरी, तारा, कुन्ती, द्रौपदी) पितृभक्त नचिकेता, महाभागवत प्रह्लाद तथा दृढ़व्रती ध्रुव ! कहाँ तक गिनाया जाय ? जहाँ अन्यान्य धर्म, सम्प्रदाय तथा संस्कृतियाँ मात्र दो चार 'इतिहास-पुरुषों' को हवा में उछाल-उछाल कर अपनी डींग हाँक रही हैं वहीं भारत की विश्ववारा संस्कृति ऐसे असंख्य रत्नों की जन्मदात्री रही है। जितने ऋषि-महर्षि-राजर्षि, उतने ही लोकोत्तर हृद्य-अनवद्य चरित ! ऐसे ही चरितों ने आज भी भारतीय जनता की आत्मनिष्ठा एवं स्वाभिमान को अनाहत एवं अक्षुण्ण बनाए रखा है। और इन्हीं महान्, दुर्लभ तथा अनुकरणीय चरितों के बल पर हम समूचे संसार को खुली चुनौती देते रहे हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

श्रीमद्भागवत का 'बलि-वामन' सन्दर्भ भी एक ऐसा ही अनुकरणीय उदात्त चरित है जो मर्मस्पर्शी एवं शिक्षाप्रद तो है ही, आज के स्वार्थान्ध, मूल्यहीन, व्यवस्थाविरोधी तथा सत्तालोलुप, भारतीय लोकतन्त्र के लिये पथ-प्रदर्शक भी है। बलिनिग्रह का रहस्य समझने के लिये अत्यन्त धैर्य, संयम तथा गहन चिन्तन की

आवश्यकता है। क्योंकि इस कथानक का बाह्य रूप 'सिंघाड़े' की तरह अत्यन्त असमञ्जस तथा विषम है। परन्तु यदि हम इस 'कथा-शल्क' को उतार कर अन्तः-प्रविष्ट हो सकें तो इसका अमृतमय रसायन प्राप्त कर पाना कठिन नहीं। मूर्खों की दृष्टि में इस कथा का निष्कर्ष बस इतना ही है कि 'देवराज इन्द्र की स्वार्थ-सिद्धि के लिये भगवान् विष्णु ने वामन रूप धारण कर दैत्यराज बलि को छला और उसे ऐश्वर्यच्युत करके इन्द्र को पुनः अभिषिक्त कर दिया।' बलि के कुलगुरु महातपा शुक्राचार्य की भी दृष्टि प्रारम्भ में ऐसी ही थी।

परन्तु सत्य यह है कि भगवान् त्रिविक्रम ने बलि को छला नहीं ! न उसे ऐश्वर्यच्युत किया और न हो उसे पाताल भेज कर दण्डित किया ! सर्वसमर्थ परमेश्वर के कार्यों की सार्थकता को या तो ज्ञानपूत ऋषि-महर्षि समझ पाते हैं या फिर उनसे कृपान्वित भक्तगण ! औरों की समझ से वह बाहर होता है। भगवान् वामन की बलिबन्धन-लीला का भी मर्म या तो भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने समझा है या फिर उनके भक्तों ने। वस्तुतः करुणावरुणालय भगवान् स्वभक्तानुग्रही तथा गर्व-प्रहारी हैं। उन्होंने जब अपने परम प्रिय भक्त महाभागवत प्रह्लाद के वंश में उत्पन्न, अपने कृपापात्र बलि को गर्वोद्धत देखा तभी अवतरण का संकल्प उनके मन में जागा।

दानवराज बलि वैष्णव-कुल में उत्पन्न होकर भी मदोद्धत हो उठा था। भृगुवंशियों द्वारा अर्जित तपोबल से उसने देवसंस्कृति का विनाश किया और उसके स्थान पर भोगवादी दानव-संस्कृति की प्रतिष्ठापना की। यह दानव-संस्कृति मूल्य-हीन थी, जनविरोधी तथा आत्मकेन्द्रित थी। इस संस्कृति का लक्ष्य आत्माभ्युदय मात्र में सीमित था। अपने पुरोहित भगवान् शुक्राचार्य के बार-बार समझाने पर भी अहंकार मग्न बलि की आँखें वामन-काया में तिरोहित परमेश्वर के 'विराट्-स्वरूप' का दर्शन नहीं कर सकीं। अतएव प्रभु को उसे अपनी विराटता का बोध कराना उचित प्रतीत हुआ।

परन्तु 'त्रिपदा-धरित्री' की याचना के बहाने बलि के राजमद एवं अहंकार को खण्डित कर देने के बावजूद भी भगवान् विष्णु ने उसके प्रति वत्सलता का ही व्यवहार किया। वस्तुतः उन्होंने बलि का 'निग्रह' नहीं, प्रत्युत उस पर अभूतपूर्व 'अनुग्रह' किया ! उसे सर्वोदयाकांक्षिणी देवसंस्कृति का अर्थ समझाया तथा अपनी अपार वत्सलता एवं कृपा से उसकी सम्पूर्ण 'राज्यैषणा' को ही समाप्त कर दिया। वामन का उद्देश्य मात्र बलि का गर्वभञ्जन था, ऐश्वर्यभञ्जन नहीं। अतएव उसका

अहंकार नष्ट होते ही उन्होंने न केवल उसे सुतल लोक का अक्षुण्ण साम्राज्य दिया, बल्कि उसे·········मन्वन्तर में 'इन्द्र' बनने का आशीर्वाद भी दिया। उन्होंने सुतल लोक में अपनी सतत—उपस्थिति से भी भक्तप्रवर बलि को आश्वस्त किया। इस प्रकार वामनावतरण का उद्देश्य दैत्यराज बलि का पारमार्थिक अभ्युदय था न कि व्यावहारिक सत्तापहरण! बलिनिग्रह द्वारा भगवान् विष्णु ने देवराज इन्द्र को भी, प्रकारान्तर से, निर्मद बने रहने की शिक्षा दी।

वामनावतरणम् की रचना मैंने सर्वप्रथम १९६८ ई० में प्रारम्भ की। इसके प्रारम्भिक अंश पूज्यचरण गुरुवर्य प्रो० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल जी (पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, इलाहाबाद वि० वि०) ने देखे तथा वत्सलतापूर्वक काव्यबद्ध आशीर्वचनों से कार्य पूर्ण करने की प्रेरणा प्रदान की। मेरे अनुज मित्र डॉ० रहसविहारी द्विवेदी जी (सम्प्रति रीडर, संस्कृतविभाग, जबलपुर वि० वि०) उन्हीं दिनों 'साठ-सत्तर दशक के संस्कृत महाकाव्यों' पर पी० एच० डी० शोधकार्य सम्पन्न कर रहे थे। उन्होंने, मेरे साथ हुई मौखिक वार्ता के आधार पर, इस 'आधे-अधूरे' महाकाव्य को भी अपने शोधप्रबन्ध में समीक्षित किया।

परन्तु वामनावतरण को पूर्ण किया मैंने अपने बालीद्वीपीय प्रवास में। उसी समय इसका धारावाहिक प्रकाशन भी सम्पन्न हुआ, कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'पारिजातम्' (संस्कृत मासिक पत्र) में।

परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनी कि घटना-क्रम (वामनावतरण: कृतयुग में, रामावतरण: त्रेतायुग में) तथा प्रणयन-क्रम (वामनावतरण १९६८ ई०, जानकी-जीवनम् १९७७ ई०, आरम्भ तिथियाँ) दोनों ही दृष्टियों से ज्येष्ठ होते हुए भी इस महाकाव्य का प्रकाशन प्रभूत विलम्ब से हो पा रहा है। इस बीच जानकीजीवनम् का प्रकाशन (सन् १९८८-८९ ई०) भी हुआ, राष्ट्रीय-स्तर पर उसकी चर्चा-समीक्षा भी हुई तथा वाचस्पति-सम्मान से उसकी सारस्वत प्रतिष्ठा भी हुई! फिर भी मेरे लिए यह महान् परितोष एवं सर्वार्थसिद्धि का क्षण है कि, विलम्ब से ही सही, वामनावतरणम् का प्रकाशन अब निर्विघ्न रूप से हो रहा है। इस प्रकाशन की सम्यक् सम्भावना के पीछे भी, केन्द्रीय शासन के शिक्षाविभाग द्वारा स्वीकृत प्रकाशनानुदान ही प्ररोचना का विषय है अन्यथा अर्थकृच्छ्र से पीड़ित बेचारे कवि की इतनी सामर्थ्य कहाँ? इस अर्थसाहाय्य के लिये मैं शासन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

महाकाव्य की गुणवत्ता के मूल्याङ्कन का दायित्व, सब दिन की भाँति सुधी, सहृदय विद्वज्जनों एवं अध्येताओं के हाथ में हैं। उनकी प्रत्येक प्रतिक्रिया को मैं आशीर्वाद मान कर माथे लगाऊँगा।

प्रिय सत्यव्रत मिश्र को ग्रन्थ के सुरुचिपूर्ण प्रकाशनार्थ हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

रामनवमी वि० सं० २०५१
शिमला-(हि० प्र०)

• •

# प्रथमः सर्गः

जयति वरदवाणी ह्लादिनी सत्कवीनां
कवनकुवलयाङ्कक्रीडदालेखगन्धा ।
यदनुकृतिकृतार्था सार्थसार्थाऽमितार्था
प्रभवति नियुतार्था शेमुषी सज्जनानाम् ॥१॥

कवितारूपी नीलकमल के अंक में क्रीड़ा करती हुई अभिप्रायरूपी गन्ध वाली तथा श्रेष्ठ कविजनों को आह्लादित करने वाली, वरदात्री वाणी की जय हो जिसके अनुसरणमात्र से कृतार्थ, सज्जनों की प्रतिभा परम सार्थवती, हजारों अनन्त अर्थों से ओतप्रोत एवं प्रभूत प्रभावशालिनी बन पाती है ।

अधिकृतबहुवर्णा कादिभिर्मावसानैः
स्वरसरणिसुगूढैर्ह्रस्वदीर्घप्लुताङ्गैः ।
सरसविगतदोषालङ्कृता चापि नित्यं
त्रिभुवनमुदितायै शारदा सारदा स्यात् ॥२॥

ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत स्वरूप से युक्त, अत्यन्त गूढ स्वरसमुदायों तथा ककार से प्रारम्भ होकर मकार तक समाप्त व्यञ्जनों द्वारा अनेक वर्णों (अर्थात् स्वर तथा व्यञ्जन) वाली, नवरसवती, दोषरहित तथा अलंकारों से विभूषित शारदा (वाणी) त्रिभुवन की प्रसन्नता के लिये, निरन्तर तत्त्वबोध प्रदान करने वाली बने ।

विरतिरतिविवेकख्यातिमाख्यातवन्तो
ललितरतिकथाभिर्वा मनः प्रीणयन्तः ।
निहतदुरितलेशाश्चान्द्रवृद्धिप्रदेशा
मसृणसदुपदेशास्ते जयन्त्याद्यगानाम् ॥३॥

पूर्वसूरियों के वे मसृण सदुपदेश विजयी हों जो कि विरति (वैराग्य) रति (प्रणयव्यापार) तथा विवेकख्याति (उचितानुचितनिर्णय) के व्याख्याता हैं अथवा ललित प्रणयगाथाओं द्वारा मन को आह्लादित करते हैं । जो पाप के नन्हें टुकड़े को भी नष्ट कर देते हैं तथा चन्द्रकला की (उत्तरोत्तर) वृद्धि के समान प्रभविष्णु होते हैं ।

निखिलसुमतिमूलं ज्ञानविज्ञानकूलं
दुरितगदसुवैद्यं साधुवेद्यानवेद्यम् ।
क्रतुरहसि निलीनश्चादिमध्यान्तहीनं
परमगतिसरूपं वेदभूपं नतोऽस्मि ।।४।।

उस वेद-भूपति को मैं प्रणाम करता हूँ जो समस्त सुमतियों का मूल है, ज्ञान एवं विज्ञान (आत्मज्ञान) का पुलिन है, पापरूपी रोग का सद्वैद्य है तथा सम्यक् रूप से जानने योग्य है, अज्ञेय नहीं है। जो याज्ञिक रहस्य से समावृत है, आदि, मध्य तथा अन्त से विहीन है तथा परमगति (मोक्ष) का समकक्ष है ।

प्रतिपदमभिरामा रामरामेव दिव्या
क्षुभितपरशुरामा वा नराणां सुगीतिः ।
प्रणवसुपदभाजः प्राक्कवेः कीर्तिवल्ला
जयति चिरमनिन्द्या काऽपि वन्द्या कथा सा ।।५।।

प्रतिपद रमणीयता से युक्त, भगवती विदेहनन्दिनी के ही समान दिव्य, परशु-राम के क्षोभ को दरशाने वाली (अथवा 'पर-सुरामा' रावणादि वैरियों की सुन्दर वनिताओं के क्षोभ को दरशाने वाली) राम एवं लक्ष्मण सरीखे नररत्नों की स्तुति-कल्पा (अथवा 'वानराणां' सुग्रीवादि वानरों की प्रशस्तिकल्पा) अनिन्द्य तथा वन्द्य वह पुराणप्रसिद्ध रामकथा चिरकाल तक उत्कर्ष प्राप्त करे जो कि वर्णों में ओङ्कार जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले आदिकवि वाल्मीकि की कीर्तिलता के समान है ।

सुगतिनवपदाङ्गी व्यासवत्साऽमृताख्या
मृदुनवरसदोहाऽऽनन्दसन्दोहगव्या ।
भुवि जयति पुराणी कापि सा सौरभेयी
सहृदयहृदयानां वैजयन्ती जयन्ती ।।६।।

शोभन गति वाले नूतन पदों एवं अंगों से युक्त, व्यास (महर्षि कृष्णद्वैपायन) रूपी बछड़े वाली, मधुर शृङ्गारादि नवरसरूपी दूध देने वाली तथा आनन्दसन्दोहरूपी गव्य (घृत) की दात्री वह प्राचीन 'अमृता' नामक काव्यधेनु भूलोक में यशस्विनी बने जो कि सहृदयों की विजयिनी कीर्तिपताका के समान है ।

कविकुलगुरुकल्पं कालिदासं समीडे
कृतजलधरदूतं गीतवंशं रघूणाम् ।
तदनु च भवभूतिं भारविं बाणहर्षौ
समधिकविनयेन प्रार्थये भट्टिमाघौ ।।७।।

कविकुल के गुरुसरीखे महाकवि कालिदास का समर्चन करता हूँ जिन्होंने मेघदूत (काव्य) का प्रणयन किया, रघु इत्यादि नरपतियों के वंश का गायन किया। उसके अनन्तर मैं भवभूति एवं भारवि की, बाणभट्ट एवं हर्षदेव की वन्दना करता हूँ (और अन्त में) प्रभूत विनम्रता के साथ कविप्रवर भट्टि एवं माघ को प्रणाम अर्पित करता हूँ।

सरसपदनिबन्धे वाङ्नृपेणापि यस्मिन्
निरतिशयसुशक्तिर्वामनीवृत्तिरुक्ता ।
अहह जडजडोऽयं बालधीश्चाल्पशौर्यो
जिगमिषति सहेलं साधु तत्रैव सोत्कः ।।८।।

जिस सरस पदबन्ध (कविकर्म) में, वाणी के भूप महाकवि कालिदास ने भी, अपनी श्रेष्ठ कवित्वशक्ति को 'वामनी-वृत्ति' मान लिया था, आश्चर्य एवं खेद है कि उसी (दुष्कर) कविकर्म में खेल ही खेल में प्रविष्ट होना चाहता है— यह बच्चों जैसी (कच्ची) बुद्धि वाला, अल्पसामर्थ्यवान् सोत्कण्ठ तथा वज्रमूढ़ (अभिराजराजेन्द्र)।

वितरतु वरवाणी भूरिभव्यं ततोऽस्मै
ऋतुतिथिनिमिषाणाम्मङ्गलं मङ्गलं स्यात् ।
अगरुदहनकल्पो ज्ञानगन्धो गुरूणा-
मनुदिनमतिमायोऽमायमेनं प्रकुर्यात् ।।९।।

(इसलिये विनम्र अभ्यर्थना है कि) वरदात्री माँ शारदा इसे प्रभूत कल्याण प्रदान करे। ऋतु, तिथि एवं निमिष (घटी-पल) आदि का मंगल इसके लिये मंगलमय हो। गुरुजनों द्वारा प्रदत्त, अगरवत्ती जैसे सौरभ वाला, भ्रान्ति-सन्देहादि का निवारक ज्ञान का सौरभ, इस शिशुकवि को दिन-प्रतिदिन आर्जव प्रदान करे।

विबुधजनविलासा काव्यभाषा क्व दिव्या
क्व च गहनगभीरं वामनीयेतिवृत्तम् ।
तदपि कुतुकभावेनैव दन्द्रम्यमाण-
स्समुपहसनयोग्योऽहं प्रवृत्तोऽस्मि गातुम् ।।१०।।

विद्वज्जनों के विलासों से ओतप्रोत दिव्योद्भवा काव्यभाषा (संस्कृत) कहाँ ? और कहाँ अत्यधिक रहस्यमय भगवान् वामन का चरित ? फिर भी, मात्र कौतूहलवश दुर्दशाग्रस्त (अतएव) समुपहासयोग्य मैं उस कथा के गायन में प्रवृत्त हो गया हूँ ।

न खलु भवति हास्यं काव्यलास्यं शिशूनां
स्खलनबहुललोलं क्वापि सामाजिकेभ्यः ।
मलिनलघुमयूखेनापि ताराधिपेन
प्रथयति मुदमेव प्रीतगङ्गाम्बुमौलिः ।।११।।

संस्खलनों (काव्यदोषों) की बहुलता से ओतप्रोत, शिशुकवियों का कवितारूपी नृत्य भी कभी-कभी सहृदयों के लिये उपहासयोग्य नहीं होता है । प्रसन्न 'गंगाम्बुमौलि' (भगवान् शिव) मन्द तथा अत्यल्प कान्ति वाले द्वितीया के चन्द्रमा से भी हर्ष का अनुभव करते हैं ।

कुवलयदलगन्धैर्बालभृङ्गोऽपि नूनं
सुतरुणकलभश्च प्रेर्यते पद्मषण्डैः ।
भवति सुदृढसूत्रं किञ्च जन्मान्तराणा-
मपृथगचलभावं प्रेरकं लोकसिद्धम् ।।१२।।

अल्पवयस्क भ्रमर भी नीलकमल की पंखुड़ियों की महँक से और अत्यन्त तरुण करिशावक कमलवन से प्रेरणा प्राप्त करता है । निश्चय ही जन्मजन्मान्तरानुगत कोई प्रेरक सुदृढ़सूत्र होता ही है जो कभी भी (पुनर्जन्म होने पर) पृथक् नहीं हो पाता है, जो अविचल तथा लोकसिद्ध होता है ।

इयमपि गुणगीतिर्नातिमानाय जाता
न विरतिकरणाय प्राक्तनोपप्लवानाम् ।
क्वचिदपि हृदयस्थाऽऽसीदकम्पाऽनुकम्पा
प्रभवति खलु याऽऽद्याहैतुकी जागदीशी ।।१३।।

भगवान् वामन के सद्गुणों की यह गीति (कविता) भी (मेरे वैयक्तिक) अतिशय सम्मान पाने के लोभ में नहीं पैदा हुई है और न हीं पूर्व जन्मों के पापदोष के निवारणार्थ जागृत हुई है । वस्तुतः हृदय के किसी कोने में परमेश्वर की अहैतुकी एवं सुस्थिर अनुकम्पा विद्यमान थी जो (अवसर पाकर) आज परिणामोन्मुख हो चली है ।

न च कवनपटीयान्नापि शब्दार्थदक्षो
न गुणरसविधिज्ञः शारदादेशवासी ।
तदपि मृदु चिकीर्षुं काव्यभूतं कथञ्चित्
किमिव वदति लोको मामितोदं न जाने ।।१४।।

न ही मैं कविकर्म में प्रवीण हूँ, न ही शब्द एवं अर्थ के चयन में दक्ष ! न तो गुणों एवं रसों की प्रक्रिया का ज्ञाता हूँ और न ही (महाकवि बिल्हण आदि की तरह) शारदा-देश 'काश्मीर' का निवासी (अथवा 'शारदा' के 'आदेश' का पात्र) फिर भी यथाकथंचित् मिठास भरी कविता जैसी कोई वस्तु निर्मित करने को लालायित— मुझको यह समाज क्या कहेगा, यह मैं नहीं जान पा रहा हूँ ।

कनकधनधनेशो नातिजानाति लौहं
न च सदमृतपायी पातुकामोऽस्ति माध्वीम् ।
हृदयलघुकुटीरे राजते यस्य नित्यं
धवलवरटवाहा तस्य काव्यैः किमन्यैः ।।१५।।

सुवर्णधन का धनी भला लोहे का अधिक सम्मान करेगा ? श्रेष्ठ अमृत को पीने वाला (देवता) क्या मदिरा पीना चाहेगा ? जिसके हृदयरूपी नन्हें कुटीर में धवलहंसवाहिनी वाग्देवी नित्य विराजमान हों भला उसे अन्यान्य (राजचरिताश्रित) काव्यों से क्या लेना-देना ?

कलयति न कुरङ्गो वागुरां रागकृष्टः
कुवलयमुखबन्धं नापि माद्यद्‌द्विरेफः ।
चटुलवटुरपीत्थं प्रत्यवायं स्वकीयं
यदि गणयति नाल्पं कोऽत्र दोषोऽवधेयः ॥१६॥

राग से आकृष्ण मृग 'वागुरा' (बन्धन-रज्जु) को नहीं देख पाता है। मदमत्त भ्रमर भी नीलकमल के मुख (अन्तराल) में बँध जाने की बात नहीं सोच पाता है। ठीक उसी प्रकार, यह चटुलवटु भी यदि (महाकाव्य-सर्जना में सम्भाव्य) अपनी विघ्न-बाधाओं का तिलमात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा है तो इसमें कोई दोष नहीं मानना चाहिये।

तरलजलधिवीच्यादित्यमेतुं यतन्ते
ननु कवयितुकामाः साम्प्रतं देववाण्या।
क्व नृपतिपरिवेशो हर्षभोजादिकानां
क्व च बुधमुखगुप्ता साऽद्यभाषा पुराणी ॥१७॥

इस युग में जो देववाणी के माध्यम से काव्य लिखना चाह रहे हैं, वे निश्चय ही सागर की तरल तरंग के सहारे सूर्य तक पहुँचने का यत्न कर रहे हैं (जो कि सर्वथा असम्भव है) हर्षदेव तथा भोजराज जैसा राजकीय परिवेष कहाँ ? और कहाँ वह 'पुराणी-भाषा' संस्कृत, जो आज (गिने-चुने) विद्वज्जनों के मुख में तिरोहित (अथवा सुरक्षित) है।

तदपि च भवितव्यं सम्भवत्येव सृष्टौ
न बृहदभिनिवेशः क्वापि रुद्धोऽन्तरायैः।
सजलधरणिगर्भे सुप्तबीजस्य हन्त
प्रभवति किल रोद्धुं कोऽङ्कुरप्रक्रियां ताम् ॥१८॥

फिर भी जो 'अवश्यम्भावी' है, वह तो सृष्टि में घटित होता ही है। बृहत् अभिनिवेश (समर्थ अभियान) कभी भी विघ्नबाधाओं से अवरुद्ध नहीं हो पाता है। सरसता से ओतप्रोत पृथ्वी के गर्भ में विधिवत् बोए गए बीज की अंकुरण-प्रक्रिया को रोक पाने में भला कौन समर्थ है ?

यमपि पुरुषरत्नं शारदा चञ्चला वा
सुतमिव कलयन्ती भूतयेऽङ्गीचकार ।
नयनलघुविलासप्राञ्जलप्रेरितेन
ध्रुवविभवनिकायोऽभूत्स एव क्षणेन ॥१९॥

जिस किसी भी पुरुष-रत्न को देवी सरस्वती अथवा लक्ष्मी ने पुत्रभाव से, समृद्धि देने के लिये अंगीकार कर लिया, वही क्षणमात्र में, अविनश्वर ऐश्वर्य का भण्डार बन गया—उनके लघु भ्रूभंग की प्रेरणा से !!

मृदुलमुरलिकल्पां काव्यशक्तिं स्वकीया-
महमपि ननु जाने छिद्रपर्याकुलाङ्गीम् ।
प्रकटयति यदीयं मूर्च्छनां भङ्गलोलां
न खलु तदतिचित्रं सा तु वाण्याः कृपैव ॥२०॥

कोमल वंशी के समान अपनी 'कवित्वशक्ति' को मैं भी छिद्रों (दोषों) से क्षतविक्षत अंग वाली मानता हूँ। फिर भी, यदि वह भंगिमाभरी मूर्च्छनाएँ प्रकट करती है तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? वह तो वाग्देवी सरस्वती की कृपा ही है।

अभवदमितशंसः कोऽपि वंशो द्विजानां
शुभचरितनिधानं मञ्जुगोरक्षपुर्याम्[1] ।
रघुपतिशरवार्ये भूप्रदेशे वसन्त-
स्तदनुगतसमाख्यां[2] येऽभजन् पंक्तिपूताः ॥२१॥

रम्य गोरखपुर नामक जनपद में पवित्र आचरण-सम्पन्न तथा अपार कीर्ति वाला ब्राह्मणों का कोई वंश विद्यमान था। रघुपति के शरों से संरक्षित भूप्रदेश में निवास करते हुए वे पंक्तिपावन ब्राह्मण 'शरवार्य' से अनुगत संज्ञा (अर्थात् सरवरिया, सरयूपारीण) को प्राप्त हुए।

---

१. गोरखपुरमिति ।
२. सरयूपारीणा इत्यर्थः (सरवरिया) ।

सुकृतनिचयभूतं गौतमाख्यं सुगोत्रं
प्रवरबहुलशाखा शुक्लमाध्यन्दिनी सा ।
अभवदमृतनेत्री चण्डमुण्डादिहन्त्री
प्रभवनिधनमूलं वंशपूज्या नु तेषाम् ॥२२॥

उन ब्राह्मणों का पुण्यसम्भार-मण्डित श्रेष्ठ गौतम-गोत्र था । अनेक प्रवरों से युक्त उनकी वेदशाखा थी—शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा ! सृष्टि एवं संहार की कारणभूता, चण्ड-मुण्डादि असुरों की विनाशकर्त्री, अमृतमय दृष्टि वाली भगवती दुर्गा उनकी वंशपूज्या देवता थीं ।

अथ तदजिरजातः कोऽपि पूतान्तरात्मा
गुणगणमणिमाली भोजराजाभिधानः ।
उपसरयु विहाय ग्रामवासं स्वकीयं
सुवसतिभभयाख्यं[1] तीर्थदेशान् प्रतस्थे ॥२३॥

उसी द्विजकुल के आँगन में पवित्र अन्तरात्मा वाले, गुणगणरूपीमणियों की माला से अलंकृत भोजराज नामक द्विजश्रेष्ठ उत्पन्न हुए । वह सरयू नदी के तट पर स्थित, श्रेष्ठ निवासस्थान 'भभया' नामक ग्राम को छोड़कर तीर्थदेशों की ओर चल पड़े ।

स च नवतनुकान्तिर्निष्ठयाऽतिप्रकृष्टो
व्यवहृतिरमणीयस्सौम्यसौम्योऽतिचिन्तः ।
कथमपि विधियोगान्मण्डले जामदग्न्ये
ननु यवनपुराख्ये[2] वर्तितुं सम्प्रवृत्तः ॥२४॥

नवयौवनोचित शारीरिक कान्ति वाले, अपनी निष्ठाओं में अत्यन्त प्रकृष्ट (समर्पित) व्यवहारों के कारण रमणीय, अतिशय सौम्य तथा चिन्तानिर्मुक्त वह भोजराज, यथाकथंचित् संयोगवश महर्षि जमदग्नि के नाम से प्रसिद्ध यवनपुर (जौनपुर) नामक जनपद में आकर रहने लगे ।

---

१. रापतपुर-भभयाख्यौ ग्रामौ मूलनिवासस्थानम् ।
२. जौनपुरजनपदम् । जमदग्निपुरमिति केचित् ।

तदनघवटवंशेऽभूत्सुतो भोजराजात्
प्रचुरबलनिकायश्शीतलाख्यस्सभेयः ।
पुरपरिघविशालैर्बाहुमाल्यैर्यदीयै-
स्सुविहितशुभकृत्यं मन्यतेऽद्यापि लोकः ।।२५।।

उसी निष्पाप ब्राह्मणवंश में, भोजराज से उत्पन्न हुआ—प्रचुर बलशाली तथा सुसंस्कृत पुत्र, जिसका नाम था 'शीतल'! नगर के 'परिघ' (बेड़ा) के समान विशाल जिसके भुजदण्डों से सम्पादित किये गये पवित्र कार्यों को आज भी समाज (सादर) स्वीकार करता है।

त्रितयसुतकनिष्ठश्शीतलस्योपकार-
प्रथितमतिविभूतिर्भेषजाचारदक्षः ।
अजनि जगति काशीराम आत्मप्रपूतो
विधिहरिहरदूतस्सूततुल्यः पुराणे ।।२६।।

शीतल के तीन पुत्रों में कनिष्ठ पैदा हुए पण्डित काशीराम, जो कि लोकोपकारों के कारण प्रख्यात मति एवं विभूति (ऐश्वर्य) वाले, भैषज्यकर्म में निपुण, अन्तःकरण से पवित्र, ब्रह्मा-विष्णु तथा शिव के कृपापात्र एवं पुराणकथा-वाचन में सूत (लौमहर्षणि उग्रश्रवा) के समान थे।

त्रिसुतसुकृतराशिः काशिरामाच्च जज्ञेऽ
भवदिह च कनिष्ठः श्रीदुलारोऽप्यमीषाम् ।
प्रमदगजसमानैर्बाहुशौर्यप्रमाणैः
पितृवनवसतीनाञ्चापि भीतिर्यदीयैः ।।२७।।

पण्डित काशीराम से पुत्रत्रयरूपी पुण्यराशि उत्पन्न हुई। उन पुत्रों में (श्री रामकुबेर एवं रामकुमार के अनन्तर) पं० रामदुलार जी सबसे छोटे थे। मदमत्त गजराज के समान जिनकी बाहुओं के शौर्य-प्रमाण से श्मशानवासी प्रेत भी भय खाते थे।

रजनिपतिगुणौघस्तस्य सूनुर्वरिष्ठ-
स्समजनि शुभकर्मा कोऽपि धर्मावतारः ।
यदुरसि हरिमूर्तिश्चानने देववाणी
सुमनसि खलु रेमे भूरिभावा भवानी ॥२८॥

उन पण्डित रामदुलार के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रमा के समान गुणसमूह (आह्लाद, शैतल्य, धावल्यादि) से मण्डित, शुभ कर्मों वाले तथा साक्षात् धर्म के अवतारस्वरूप थे । जिनके हृदय में भगवान् विष्णु की मूर्ति, मुख में देववाणी तथा पवित्र मन में भूरिभावा भवानी रमण करती थीं ।

अभवदखिललोके तत्समाख्याऽमृताङ्गी
ननु युगदिशि रामानन्दमिश्राभिधाना ।
यदधरमधु पायं पायमात्मानमूर्ध्वं
प्रभुचरणनिलीनं भक्तलोको नु मेने ॥२९॥

सम्पूर्ण लोक (समाज) में उनकी प्रसिद्धि पण्डित रामानन्द मिश्र के नाम से व्याप्त हुई जो कि दोनों ही क्षेत्रों (लोक तथा परलोक) में अमृतस्वरूपा थी । जिनके अधरों का कथामृत पी-पी कर, भक्तवृन्द स्वयं को समुद्धृत एवं परमेश्वर के चरणों में विलीन मानता था ।

न किमपि तदभीष्टं मानसं वाचिकं वा
प्रविततपुरुषार्थैः कर्मभिर्यन्न सिद्धम् ।
न च तदुदितभव्यं लौकिकं तत्परं वा
प्रयतनपरिणामैर्नैकधा यन्न भुक्तम् ॥३०॥

पण्डित रामानन्द के लिये कोई भी ऐसा मानसिक अथवा वाचिक अभीष्ट कार्य नहीं था जो कि उनके असीम पुरुषार्थ वाले कर्मों से सिद्ध न हो गया हो ! उनके लिये कोई ऐसा लौकिक अथवा पारलौकिक श्रेष्ठ कल्याण भी नहीं था जिसे कि उन्होंने अपने प्रयत्नों के परिणाम से बार-बार प्राप्त न किया हो ।

वितनयवरपुञ्जं सोऽत्रिकल्पोऽनुलेभे
धृतजनिमिव पूतं त्रिप्रसादं भवान्याः ।
त्रिगणसुखसमूहञ्चाप्यनेनैव भेजे
परमगतिमथापि स्कन्दमातुः प्रसादात ॥३१॥

जन्म लेने वाले भवानी के पवित्र 'प्रसादत्रय' के समान तीन पुत्रों के वर-समूह को महर्षि अत्रि के समान (पं० रामानन्द मिश्र) उन्होंने प्राप्त किया। इसी पुत्रत्रयी से उन्होंने धर्म, अर्थ एवं कामरूपी 'त्रिगुणसुख' को भी भोगा और अन्ततः स्कन्द-जननी (भगवती दुर्गा) की कृपा से चौथे सुख मोक्ष (परमगति) का भी वरण किया।

स च परममनस्वी तेजसाऽतिप्रगल्भो
धृतनिशितकुठारः क्षात्रधर्मानुरक्तः ।
प्रथम इव बभूव क्षीरसिन्धुप्रमन्थात्
क्षुभितदनुजलोकस्तीव्रहालाहलौघः ॥३२॥

क्षात्रधर्म में अनुरक्त (अर्थात् क्षत्रिय जैसे स्वभाव वाला), तीक्ष्ण कुठार (फरसे) को धारण करने वाला, तेजस्विता के कारण अत्यन्त प्रगल्भ तथा परम स्वाभिमानी उनका प्रथम पुत्र—क्षीरसागर के प्रगाढ मंथन से उत्पन्न तथा असुरमण्डली को क्षुभित कर देने वाले तीव्र हलाहल-समूह के समान—प्रकट हुआ।

सुचरितरमणीयोऽपत्यबन्धुप्रलीनः
कृतबुधजनसङ्गोऽभङ्गविद्याविलासः ।
जयति जगति सोऽसौ तातदुर्गाप्रसादः
सुरभुवि विलसन्तं सन्ततं यं स्मरामि ॥३३॥

अपने शोभन आचरणों के कारण रमणीय, बच्चों एवं बन्धुजनों (के स्नेह) में तल्लीन, विद्वज्जनों की संगति में रहने वाले तथा अनवरत विद्याभ्यास वाले मेरे पितृचरण वह पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र जी लोक में (आज भी) उत्कर्ष प्राप्त कर रहे हैं। देवलोक में विराजमान जिन्हें मैं सतत स्मरण करता हूँ।

नवयवसि समग्रैर्मानवीयैः सुवृत्तं-
विधिवदिषुधिकल्पां गन्धयित्वा धरित्रीम् ।
अनृणमपि विधाय व्यात्मजैरात्मदेहं
हरिचरणशरण्योऽभूत्स षड्विंशतिस्थः ।।३४।।

नवीन (युवा) अवस्था में ही समस्त मानवोचित सत्कर्मों द्वारा, तूणीरकल्पा पृथ्वी को विधिवत् सुरभित करके तथा तीन पुत्रों द्वारा अपने व्यक्तित्व को भी (पितृऋण से) ऋणमुक्त करके वह मात्र छब्बीसवें वर्ष में श्रीहरि के चरणों में समर्पित हो गये ।

सदुपयमनकेलिं नैमिषीं शङ्कमाना
कुटिलनियतिचक्रं नैरपेक्ष्यञ्च धातुः ।
मुषितविभवमूलाऽभूद्युगस्यानुकूला
तदमलघनलेखा चारुभार्याऽभिराजी ।।३५।।

मञ्जुल विवाह-केलि को क्षणस्थायिनी अनुभव करने वाली, कुटिल नियति-चक्र एवं विधाता की निष्ठुरता को भी हृदयंगम करने वाली दिवंगत पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र जी की निर्मल धनलेखा-सरीखी साध्वी भार्या अभिराजी, जिसके वैभव का मूल निस्यन्द ही लुट चुका था (अब) युग के अनुकूल जीवन-यापन करने लगी ।

प्रियविरहकृशाङ्गी त्यक्तकूलाऽपगेव
प्रचलसलिलभङ्गान् सा पुपोषेव पुत्रान् ।
विधुरमणवियोगं पावणं विस्मरन्ती
सुखयति सुतकल्पांस्तारकानेव रात्रिः ।।३६।।

दिवंगत स्वामी के वियोग में कृशकाय उस देवी ने, तटों का परित्याग कर देने वाली (अल्पतोया) सरिता के समान, चंचल सलिल-तरंगों जैसे अपने तीनों पुत्रों का पोषण किया । पर्वकालीन चन्द्ररूपी प्रिय के वियोग का स्मरण करती हुई (कृष्णपक्ष की) रात्रि पुत्र-सरीखे नक्षत्रों का योग-क्षेम तो सँभालती ही है ।

अथ जलधितरङ्गैश्चण्डखण्डप्रवातै-
स्तरणिरिव विलोलं जीवन यापयन्ती ।
कथमपि निहताशा साऽतिदीना ददर्श
रविकिरणविकाशं जीवनव्योम्नि शुभ्रम् ॥३७॥

तदनन्तर, सागर-तरंगों एवं भयावह तूफानों द्वारा अस्थिर बना दिये गये जीवन को, नौका के समान यापित करती हुई अतिशय दीन एवं हताश उस देवी ने यथाकथंचित् (अपने) जीवनरूपी आकाश में शुभ्र (सौभाग्य) रविकिरणों के विकास को देखा ।

रसरसरसचन्द्रे हायने विक्रमाणां
हृतजननिविषादो मासि पौषेऽसितांशे ।
अवतरणमुपेतः सप्तमेऽह्नि प्रभाते
स्वजनविजयहेतुर्मध्यमस्तत्तनूजः ॥३८॥

विक्रमीय संवत् 'रस-रस-रस एवं चन्द्र' अर्थात् १९९९ में पौष मास के कृष्णपक्ष में, सातवें दिन (अर्थात् शनिवार) प्रभात-वेला में, जननी अभिराजी के विषाद को दूर कर देने वाला, स्वजनों के अभ्युदय का हेतुभूत उसका मँझला पुत्र अवतरित हुआ ।

युग्मकम्

चपलकृतिकदम्बे त्वम्बया सौम्यबाल्ये
प्रवरगुरुसमूहैश्चापि कैशोर्यसीम्नि ।
कुसुमशरविलोले यौवने साधु दृष्टो
महितपदपितृव्यैश्चायमाद्याप्रसादैः ॥३९॥

चंचल क्रीडासमूह से भरे-पुरे कोमल शैशव में जननी द्वारा, किशोरावस्था की अवधि में प्रवर गुरुजनों द्वारा तथा पञ्चशर से प्रभावित यौवन में, प्रतिष्ठापद पर आसीन पितृव्यचरण आद्याप्रसाद मिश्र द्वारा भलीभाँति देखा-भाला गया ।

ध्वज इव सुकृतानां व्योम्नि दोधूयमानः
सुकविमहितकीर्तिं पावनीञ्चानुयातः ।
प्रयतननिरतोऽभूद् वामनं गातुकामो
विशदमतिरिदानीं हन्त राजेन्द्रमिश्रः ।।४०।।

सत्कर्मों की ध्वजा के समान आकाश में तरंगित होता हुआ तथा पवित्र सत्कविजनोचित महनीय कीर्ति का भाजनभूत वही विशद-बुद्धि राजेन्द्रमिश्र सम्प्रति भगवान् वामन के चरित-गायन में उत्कण्ठित होकर प्रयत्न-रत हो चला है ।

वैरोचनिं विगुणशक्तिमदं वरेण्यं
यो वै बबन्ध मतिशृङ्खलयाऽखिलेशः ।
खर्वं वपुर्दधदपि त्रिदशोपकृत्यै
तस्मै नमः प्रवरदेशिकतल्लजाय ।।४१।।

निन्दावह शक्ति-मद वाले विरोचनपुत्र श्रेष्ठ दैत्यराज को, वामनशरीर धारण करते हुए भी जिन अखिलेश परमेश्वर ने, देवताओं के उपकारार्थ (अपनी) मतिरूपी शृङ्खला से बाँध लिया, उन प्रवर देशिकोत्तम को प्रणाम करता हूँ ।

दुर्वारशक्तिमदघूर्णननष्टधैर्यां
व्याख्यातुमत्र धरणीतलराजनीतिम् ।
काव्ये सदौषधघटे पुटपाककल्पे
सौवर्णविष्णुचरितामृतमुद्वहामि ।।४२।।

दुर्निवार शक्तिमद के नग्ननृत्य से विनष्ट संयम वाली, भूतल की राजनीति को, इस महाकाव्य में व्याख्यात करने के उद्देश्य से, पुटपाक-सदृश इस काव्यरूपी श्रेष्ठ औषधि-घट में मैं सुवर्णरूपी विष्णुचरितामृत को स्थापित कर रहा हूँ ।

देवत्वसिद्धिफलितं कथया पुराण्या
रूपायितुं सपदि साम्प्रतिके प्रसङ्गे।
द्वैपायनोक्तसरणिं तरणीं निधाय
श्रीवामनीयचरितामृतमातनोमि ॥४३॥

पौराणिक (वामन) कथा के सहारे, आज के राजनयिक सन्दर्भ में देवत्व-सिद्धि रूपी फलित को रूपायित करने के लिये—भगवान् वेदव्यास द्वारा वर्णित कथापद्धति को ही 'तरणी' बना कर मैं श्रीवामनीयचरितामृत का प्रकाशन कर रहा हूँ।

यस्मिन् प्रशासनविधानपथे समन्तात्
स्युः कण्टका विषमदंशविषार्तिदक्षाः।
तस्मिन्नहो प्रचलतां जगतां जनानां
दुःखं न किं नरकतुल्यमिह प्रकामम् ॥४४॥

जिस शासन-व्यवस्था के मार्ग में चारों ओर, भयावह दंशजन्य विष की वेदना उत्पन्न करने में दक्ष काँटे बिछे हों, भला उस पर संचरण करने वाले जनसमूह को, इस पृथ्वी पर, कौन भरपूर दुःख नहीं प्राप्त होगा ?

स्वर्गास्पदे विहितबुद्धिरतो महीपः
प्रोद्धृत्य कण्टकचयान् विविधैरुपायैः।
कुर्यात्प्रजाजनपथं कुसुमोर्ध्ववर्षै-
र्हैयङ्गवीनमसृणं स तु राजधर्मः ॥४५॥

अतएव स्वर्गलोक की प्राप्ति में केन्द्रित बुद्धि राजा का कर्तव्य है कि वह विविध उपायों द्वारा कण्टक-समूह का निवारण कर, प्रजाजनों के मार्ग को पुष्पों की भारी वर्षा से, नवनीत के समान कोमल बना दे। बस, यही है राजधर्म !

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजो सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥४६॥

कवित्वशिखरभूत, श्रेष्ठ मौक्तिकरूपी व्यक्तित्व वाले जिस पुत्र को वन्दनीया (माँ) देवी अभिराजी ने शुक्ति (सीपी) के समान अपनी कोख में (पिता) दुर्गाप्रसाद के अंश से उत्पन्न किया—अग्रज देवेन्द्र तथा अनुज सुरेन्द्र के मध्य मणिकल्प उसी राजेन्द्रमिश्र द्वारा, अपने हृदय की परितुष्टि के लिये, भगवान् त्रिविक्रम का निष्पाप यश देववाणी संस्कृत के माध्यम से प्रकाशित किया जा रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥४७॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव के संस्कृतगीत जिसके पत्र हैं, विल्हणकवि के सुभाषित जिसके पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—निसर्गजात वह अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यद्रुम चिरजीवी हो !!

॥ इतिश्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
कविवंशवर्णनाभिधः प्रथमः सर्गः।

• •

# द्वितीयः सर्गः

प्रह्लादपौत्रो बलिरात्मजो यो
विरोचनस्यामितभूरितेजाः ।
पुरा रणे वज्रधरेण भुग्नो
महद्व्यथौ कृच्छ्रमुपात्तलज्जः ॥१॥

अनन्त एवं प्रभूत तेजस्-सम्पन्न (दैत्यराज) बलि, जो कि प्रह्लाद का पौत्र एवं विरोचन का पुत्र था—प्राचीन काल में समरांगण में वज्रधारी (देवराज) इन्द्र से पराजित होकर लज्जाभिभूत हुआ सा दुस्सह मनोव्यथा का पात्र बन गया।

धुर्यः परो मानवतां स राजा
फणाहतो नाग इव प्रकामम् ।
स्वजीवितं गर्हितमेव मेने
निकारमात्रैकविशिष्टसारम् ॥२॥

स्वाभिमानियों में श्रेष्ठ एवं अग्रगण्य उस नरेश ने, भरपूर कुचले गये फण वाले नाग के समान (पराजय के कारण) अपने जीवन को गर्हित तथा एकमात्र अपमानरूपी विशिष्ट सार वाला मान लिया।

स दीनचित्तो निरुपायवित्तो
जगाम शुक्रं शरणं गुरुं स्वम् ।
घनान्धकारेष्विव दीपतुल्यं
कर्तव्यमार्गाविचये समर्थम् ॥३॥

दीन-चित्त तथा उपायविहीन ऐश्वर्य वाला राजा बलि शरणभूत अपने कुलगुरु महर्षि शुक्राचार्य के पास गया जो कि गहन अन्धकार राशि में दीपक के समान थे, तथा कर्तव्यमार्ग के निर्देश में समर्थ थे।

न गेहिनी नैव सुतो न मित्रं
न बन्धवो नैव पिता न माता।
विपत्सु साहाय्यकरास्तथा स्युः
प्रांशुर्यथा वंशगुरुः प्रविज्ञः ॥४॥

न गृहिणी, न ही पुत्र, न मित्र, न बन्धुजन, न ही पिता एवं माता— विपत्तियों में वैसे सहायक बन पाते हैं जैसा कि प्रविज्ञ एवं महान् वंशगुरु होता है।

कठोरवातातपदाहशुष्यद्
वपुर्विवर्णं कुसुमं यथान्तः।
मरन्दमारक्षति यत्नसिद्धः
शिष्यं तथा वंशगुरुः प्रकृष्टः ॥५॥

कठोर वात एवं आतप-दाह से सूखती हुई पंखुड़ियों वाला विवर्ण पुष्प जैसे अपने अन्तराल में 'मकरन्द' (पुष्पासव) को सुरक्षित रखता है, प्रयत्नसिद्ध तथा श्रेष्ठ कुलगुरु भी उसी प्रकार (अपने) शिष्य को सँभालता है।

विलोक्य शिष्यं बलिमागतं तं
मन्दाक्षदैन्याम्बुधिमग्नचित्तम्।
तं सान्त्वयामास शुभोपदेशैः
शुक्रो भृगूणां सुयशोध्वजाभः ॥६॥

लज्जा एवं दैन्य के सागर में निमग्न हृदय वाले शिष्य-प्रवर उस बलि को उपस्थित देख, भृगुवंशियों के कीर्तिध्वज के प्रतीक शुक्राचार्य ने कल्याणकारी उपदेशों द्वारा उसे सान्त्वना प्रदान की।

अलं बले ! बालनिभाल्पधैर्य-
रलञ्च राजन्नतिमात्रतापैः।
क्रमागमोऽयं न विरोद्धुमिष्टः
सुखस्य दुःखस्य च सृष्टसृष्टिः ॥७॥

(शुक्राचार्य ने कहा---) वत्स बलि ! बच्चों जैसी धैर्यहीनता व्यर्थ है। हे राजन् ! अत्यधिक सन्ताप से भी कोई लाभ नहीं ! सुख एवं दुःख का यह दुर्निवार क्रमिक आगम विरोध करने योग्य नहीं है।

चक्रद्वयं जीवनयाननद्धं
सुखञ्च दुःखञ्च नरेन्द्र ! विद्धि ।
नाग्रेसरत्येव यथैकचक्रं
यानं तथा जीवनमप्यनन्यत् ॥८॥

हे नरेन्द्र ! सुख एवं दुःख को जीवनरूपी यान में नियोजित चक्रद्वय ही समझो। जैसे एक पहिये वाला यान आगे नहीं ही बढ़ पाता है ठीक उसी प्रकार जीवन भी (सुख अथवा दुःख) दूसरे के बिना आगे नहीं बढ़ पाता है।

विस्मृत्य तस्माद् बहलापमानं
पराजयं शोकचयं नितान्तम् ।
चिनुष्व भूयोऽपि नरेन्द्र ! शक्ति
वीर्यञ्च तेजश्च महार्घयज्ञैः ॥९॥

इसलिये हे राजन् ! प्रगाढ़ अपमान, पराजय तथा घनीभूत शोकभार को भूल कर, महार्घ यज्ञों द्वारा, एक बार पुनः सामर्थ्य, पराक्रम तथा तेजस्विता का संचय करो।

पुराऽपि भूपाः कति नो प्रतापं
खलीकृतं शत्रुभिरापुरिद्धम् ।
अतः समुप्याशु मखेन्द्रबीजं
राजंल्लभस्वोर्जितपारिजातम् ॥१०॥

प्राचीन काल में भी कितने ही नरपतियों ने, शत्रुओं द्वारा नष्ट कर दिये गये समृद्ध प्रताप को क्या पुनः प्राप्त नहीं किया ? अतएव यथाशीघ्र श्रेष्ठ यज्ञरूपी बीज को बो कर हे राजन् ! ऊर्जस्वी परिणाम (कामनाओं की पूर्ति) को प्राप्त करो।

त्रैलोक्यसृष्टिक्षम ऊर्ध्वशक्ति-
र्यज्ञो हि मूर्तिः परमात्मनोऽयम् ।
सर्वार्थसिद्ध्यायत एव देवं
यज्ञेश्वरं प्रीणय शान्तचित्तः ॥११॥

त्रैलोक्य की संरचना में समर्थ, ऊर्ध्व शक्ति वाला यह यज्ञ परमात्मा की (साक्षात्) मूर्ति ही है। अतएव सर्वार्थसिद्धि के लिये भगवान् यज्ञेश्वर को ही शान्त-चित्त होकर प्रसन्न करो।

इतीव सम्मन्त्र्य विनीतशिष्यं
वैरोचनिं भार्गववंशभानुः ।
कर्तुं मखं विश्वजितं दिदेश
स्वाभीष्टलाभाय गृहीतदीक्षम् ॥१२॥

भार्गववंश के सूर्य शुक्राचार्य ने अपने विनम्र शिष्य, विरोचनपुत्र बलि को इस प्रकार उपदेश देकर उसे, अपने मनोवांछित लाभ की प्राप्ति के लिये अंगीकृत विश्वजित् नामक यज्ञ सम्पन्न करने के लिये प्रेरित किया।

अथागते मङ्गलभूरियोगे
महाभिषेकैरभिषिच्य भूपम् ।
अयाजयंस्तं विधिना विधिज्ञा
अध्वर्यवो भार्गववंशजाताः ॥१३॥

इसके अनन्तर, मंगल-बहुल योग आने पर राजा बलि को महाभिषेक से अभिषिक्त करके, भार्गववंशोत्पन्न तथा शास्त्रविधि के ज्ञाता अध्वर्यूवों ने उनसे यज्ञ सम्पन्न कराया।

जिगीषमाणाय शचीन्द्रमुग्रं
सबान्धवं सानुचरं सवित्तम् ।
तस्मै ददुर्विश्वजिता प्रकामं
भृगुद्विजा ऊर्ध्वतमां समृद्धिम् ॥१४॥

बन्धु-बान्धवों, अनुचरों तथा ऐश्वर्यों सहित शचीपति इन्द्र को जीत लेने के लिये उत्कण्ठित उस बलि को भृगुवंशी ब्राह्मणों ने विश्वजित् यज्ञ द्वारा, श्रेष्ठतम समृद्धि यथेष्ट रूप से प्रदान कर दी ।

सम्पादिते विश्वजिदध्वरेऽथो
दिव्यो रथः काञ्चनपट्टनद्धः ।
मृगेन्द्रशोभिध्वजसम्परीतो
हुताशनादभ्युदियाय तूर्णम् ।।१५।।

इसके अनन्तर, विश्वजित् नामक उस यज्ञ के परिपूर्ण होते ही, एक दिव्य रथ यज्ञकुण्ड से वेगपूर्वक प्रकट हुआ । वह रथ सुनहरे वस्त्रों से अलंकृत तथा सिंहाकृति मण्डित ध्वजों के ओतप्रोत था ।

आदित्यवाजिप्रतिमास्तुरीया
हयाश्च जाता कवचं धनुश्च ।
तूणावरिक्तौ कविकाकशाद्या
अन्येऽपि सर्वे सुभटोपचाराः ।।१६।।

भगवान् सूर्य के रथाश्वों के समान चार घोड़े, कवच, धनुष, कभी भी रिक्त न होने वाले दो तूणीर, कविका (लगाम) कशा (कोड़ा) तथा योद्धाओं के योग्य अन्यान्य युद्ध-उपादान भी उसी यज्ञकुण्ड से उत्पन्न हुए ।

प्रत्यक्षमालोक्य फलं मखस्य
मत्वा च तद्भाविजयस्य चिह्नम् ।
स भार्गवो घोरतपाः सुमेधाः
प्रीतिं परां तोषमवाप चान्ते ।।१७।।

विश्वजित् यज्ञ के प्रत्यक्ष फल को देखकर तथा उसे भावी विजय का शकुन मान कर, उग्र तपश्चर्या वाले महामति भार्गव (शुक्राचार्य) अन्ततः परम आह्लाद एवं परितोष का अनुभव करने लगे ।

ददौ स शिष्याय महार्घशङ्खं
दिव्यध्वनिं शत्रुमनःप्रकम्पम् ।
अम्लानपुष्पां स्रजमिद्धशोभां
पितामहश्चापि ददौ जयाय ॥१८॥

उन्होंने अपने शिष्यप्रवर बलि को दिव्य ध्वनि उत्पन्न करने वाला तथा शत्रुओं के हृदयों को प्रकम्पित कर देने वाला एक महामूल्यवान् शंख प्रदान किया (इसी प्रकार) पितामह प्रह्लाद ने भी विजय पाने के लिये बलि को एक समृद्ध शोभा वाली अम्लनपुष्पा माला प्रदान की ।

वात्सल्यपूर्णाभिरमोघदृग्भि—
र्दृष्टः प्रसूनां बलिरुग्रतेजाः ।
तस्मिन् क्षणे रुद्र इवातिरौद्रो
ह्यरातिसंहारमती रराज ॥१९॥

उग्र तेज से विभूषित बलि को जननियों ने वात्सल्यपूर्ण अमोघ दृष्टियों से निहारा । अराति-संहार के लिये कृतसंकल्प बलि उस क्षण भगवान् रुद्र के समान अत्यन्त भयावह प्रतीत हो रहा था ।

कटाक्षपातैर्मृदुवल्गुभावै—
र्दृष्टो निजान्तःपुरयौवतेन ।
त्रिलोकजैत्रो रतिवल्लभाभो
बलिः श्रियं साधु दधे तदानीम् ॥२०॥

अपने अन्तःपुर की रमणियों द्वारा, कोमल एवं रतिनिष्ठ भावों से भरे कटाक्षपातों द्वारा देखा गया बलि उस समय त्रिलोकविजयी रतिवल्लभ काम के समान शोभा पाने लगा ।

युग्मकम्

प्रजाजनैर्जीवजयादिवाचो
द्रुतं समुच्चार्य कृतप्रणामः ।
वैतालिकैः शंसितवंशकीर्तिः
सुरञ्जितो गाथकनर्तकीभिः ॥२१॥

प्रजाजनों द्वारा 'महाराज चिरजीवी हों, विजयी हों' इत्यादि मंगलवचनों का द्रुतगति से उच्चारण करके प्रणाम किया गया, वैतालिकों द्वारा प्रस्तुत वंशकीर्ति की प्रशंसा वाला तथा गायकों एवं नर्तकियों द्वारा भरपूर मनोरंजन कर दिये जाने पर ।

सभाजितोऽन्यैरपि वंशवृद्धै-
र्बलिः प्रजेशो विजिगीषुमुख्यः ।
बभ्राज मार्तण्ड इवाम्बरस्थो
निसर्गयत्नार्जितशक्तिशक्तः ॥२२॥

वंश के अन्याय वड़े-वूढ़ों द्वारा भी अभिनन्दित होकर विजिगीषुमुख्य प्रजेश्वर बलि आकाशमण्डलस्थ सूर्य के समान सुशोभित हो उठा--सहज प्रयत्न से उपार्जित शक्तियों के कारण सामर्थ्य सम्पन्न होकर ।

प्रणम्य शुक्रं गुरुमर्थमूलं
ह्यन्यान् द्विजान् स्वस्त्ययनावसक्तान् ।
प्रह्लादमामन्त्र्य पितामहं स्वं
पौत्रो बलिर्नम्रधिया ननाम ॥२३॥

अपनी कामना के मूल गुरु शुक्राचार्य को तथा स्वस्त्ययन-पाठ में दत्तचित्त अन्यान्य द्विजों को भी प्रगाम कर, पौत्र बलि ने अपने पितामह प्रह्लाद से (विजय-यात्रा की) विदा माँग कर, नम्रभाव से उन्हें प्रणाम अर्पित किया ।

प्रदक्षिणीकृत्य ततश्च सर्वान्
दिव्यं रथं भार्गवदत्तमिष्टम् ।
महारथश्चाधिरुरोह तूर्णं
धृतायुधो दैत्यपतिर्जिगीषुः ॥२४॥

इसके अनन्तर समस्त मंगलाशंसियों की प्रदक्षिणा करके, आयुधों से विभूषित, विजयेच्छुक, महारथी दैत्यराज बलि भगवान् शुक्राचार्य द्वारा प्रदत्त अभीष्ट दिव्य रथ पर, तूर्णगति से अरूढ़ हो गये ।

हेमाङ्गदालङ्कृतयुग्मबाहुः
सुस्रग्धरो लौहशिरस्त्रशोभः ।
सन्नाहसंछादितपीनवक्षा
रणाभियानं स ततश्चकार ॥२५॥

सुवर्णनिर्मित अंगदों (भुजबन्दों) से अलंकृत भुजाओं वाले, शोभन माला को धारण करने वाले, लौह शिरस्त्राण से अलंकृत, कवच से आच्छादित चौड़ी छाती वाले बलि ने (तब) रणाभियान प्रारम्भ किया ।

तुल्यान्वयैस्तुल्यबलप्रकर्षै—
स्तुल्यान्तरोत्साहयुयुत्सुतैश्च ।
श्रिया धिया चापि नितान्ततुल्यैः
स्वयूथपैर्वीरभटैः समृद्धः ॥२६॥

दैत्यराज बलि समान वंशपरम्परा वाले, समान बलप्रकर्ष वाले, समान आन्तरिक उत्साह एवं युद्धेच्छा वाले तथा बुद्धि एवं ऐश्वर्य की दृष्टि से भी सर्वथा आत्मतुल्य अपने वीर योद्धाओं तथा सेनापतियों से समृद्ध थे ।

युग्मकम्

पताकिनीभिः प्रलयस्थसिन्धु—
प्रचण्डकल्लोलनिनादिनीभिः ।
शस्त्रास्त्रविद्योतितदिङ्मुखाभि—
र्मृगेन्द्रनादाभिरथानुयातः ॥२७॥

प्रलयकालीन सागर की प्रचण्ड लहरों के समान निनाद करने वाली, शस्त्रास्त्रों की चमक से दिग्दिगन्तों को प्रकाशित कर देने वाली तथा सिंहनादों से ओतप्रोत अपनी सेनाओं के द्वारा अनुगत।

दधाव दैत्याधिपतिर्यदाऽसौ
पौरन्दरीं शंसितराजधानीम्।
दिगङ्गना भीततमा निलिल्यु—
र्द्यावापृथिव्योः दृढसन्धिरन्धरे ॥२८॥

वह दैत्याधिपति बलि ज्यों ही पुरन्दर (देवराज इन्द्र) की प्रख्यात राजधानी पर आरूढ़ हुआ, वैसे ही अतिशय भयभीत दिग्वधुएँ आकाश एवं पृथ्वी के सुदृढ़ सन्धिविवरों में जा छिपीं।

मदाम्बुवर्षैस्सरणिं जलार्द्रां
सेनाचराणां प्रविलीनधैर्याः।
दिक्सिन्धुरा यद् विदधुस्समन्ताद्
बभूव तद्भूरिहिताय तेषाम् ॥२९॥

विनष्ट धैर्य वाले दिग्गजों ने भी (मारे भय के) मदजल की वृष्टियों से सैनिकों के मार्ग को जो, चौतरफा जल से आर्द्र बना दिया वह उन सैनिकों के लिये प्रभूत सुखकर ही सिद्ध हुआ।

सैन्यप्रयाणोत्थविरावझम्प—
त्रुट्यत्समाधिर्मधुकृत्समूहः।
जगौ मधु प्राणपणेन धुन्वन्
यत्तद्भटानां श्रुतिसौख्यमाप ॥३०॥

सेना के प्रयाण से उत्पन्न कलकलनाद के झोकों से टूटी समाधि वाली भ्रमरों की टोली ने, प्राणपण से भनभाते हुए जो मधुर गायन (गुन्जन) प्रारम्भ किया वह सैन्यभटों के श्रुतिसौख्य के लिये प्रभावी सिद्ध हुआ।

अकालमेघोदयसन्निभां तां
दृष्ट्वा नभोगाः खलु राजहंसाः ।
चक्रुः सुखं पक्षतिभिर्भटानां
मार्तण्डतापं ननु वारयन्तः ॥३१॥

अनवसर उमड़ी घनघटा के समान उस सेना को देखकर आकाशचारी राजहंसों ने (भी) विततपक्षों द्वारा सूर्य की ऊष्मा का निवारण करते हुए, सैनिकों को (छाया का) सुख प्रदान किया ।

कलं जगुर्दैत्यपतिं तमुग्रं
सभाजयन्तोऽध्वनि किन्नरा यत् ।
ध्रुवं तदासीत्समयानुकूलं
निसर्गकातर्यविपुष्टिकृच्च ॥३२॥

मार्ग में, किन्नरों ने अभिनन्दन करते हुए जो प्रतापी दैत्यपति बलि का मधुर (यशो) गान प्रस्तुत किया, निश्चय ही वह समयानुकूल कृत्य था और किन्नरों की सहज कातरता का पोषक प्रमाण भी था ।

विद्याधरैश्चारणसिद्धवृन्दैः
सपुष्पवर्षं पथि सम्मुखीनैः ।
प्रह्लादकीर्तिः कुमुदावदाता
गीता बलेर्भूरिसुखं चकार ॥३३॥

मार्ग में आमने-सामने खड़े विद्याधरों तथा चारणों एवं सिद्धों के समूहों ने जो दैत्यराज प्रह्लाद की कुमुदपुष्प के समान धवल कीर्ति गाई, उसने बलि को प्रभूत सुख प्रदान किया ।

प्रयाचितो यो विबुधैः स्वमायु—
र्ददौ मुदा सत्यवचोऽभिमानः ।

विरोचनस्यापि च तस्य शंसा
साऽरञ्जयामास बलिं बलीयः ॥३४॥

सत्यवचनों के अभिमानी जिसने देवसमूहों द्वारा याचना किये जाने पर, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपनी आयु दान में दे दी उस (पिता) विरोचन की प्रशंसा ने भी बलि को अतिशय आह्लादित किया।

एवं बलिर्दैत्यचमूं विशालां
युग्यो बलीवर्द इवानुकर्षन्।
आकाशमार्गेण सुरेन्द्रपुर्याः
प्रायेण पर्यन्तिकमाजगाम ॥३५॥

इस प्रकार, विशाल दैत्यवाहिनी को, गाड़ी में जुते बलीवर्द के समान, आगे खींचता हुआ बलि, आकाशमार्ग से प्रायः सुरेन्द्रपुरी अमरावती के समीप आ पहुँचा।

पार्श्वे नु पृष्ठे ध्वजिनीं ररक्ष
योधाग्रणीर्भैरवविप्रचित्तिः।
राहुश्च नेमिश्च ररक्षतुस्तां
क्रमेण वामेऽथ च दक्षिणांशे ॥३६॥

योद्धाओं में अग्रणी, भयावह विप्रचित्ति उस सेना की, पिछले भाग में रक्षा कर रहा था। इसी प्रकार राहु तथा नेमि उस सेना को क्रमशः बाएँ तथा दायें भाग में रक्षित कर रहे थे।

स्वयं सुनासरीरगतो मदच्यु—
त्प्रतुङ्गमातङ्गवराधिरूढः।
ररक्ष सेनां दनुजेश्वरोऽसौ
स्वसैनिकोत्साहबलैकहेतुः ॥३७॥

मदस्रावी उत्तुङ्ग गजराज पर आरूढ़ दनुजेश्वर वह बलि स्वयमेव सेना के सम्मुख भाग में स्थित होकर उसकी रक्षा कर रहे थे। वह अपने सैनिकों के उत्साह एवं बल के एकमात्र आधार थे।

निवेश्य राजा स्वभटप्रवीरान्
आकाशगङ्गापयसां समीपे।
विचित्रमार्गश्रयजातखेदं
निजं समेषां शिथिलीचकार ॥३८॥

राजा बलि ने, अपने वीर योद्धाओं को आकाशगंगा की जलराशियों के पार्श्व में ही ठहरा कर, विचित्र मार्ग पर यात्रा करने के कारण उत्पन्न अपनी तथा समस्त सैनिकों की थकान को दूर किया।

स कर्मयोगी भृगुभिः समृद्धो
महार्घयज्ञार्जितभूरितेजाः।
अध्वश्रमार्तोऽपि मनस्यनूनं
शौर्यं बलञ्चानुबभूव वीरः ॥३९॥

श्रेष्ठ (विश्वजित्) यज्ञ के सम्पादन से अर्जित प्रभूत तेजवाले, भृगुवंशियों द्वारा समृद्ध, कर्मयोगी वह वीर बलि अध्वश्रम से पीड़ित होते हुए भी, मन में अपार शौर्य एवं बल का अनुभव कर रहा था।

उत्कण्ठितश्शत्रुजयाभिलाषैः
करम्बितश्चापि युयुत्सयाऽलम्।
शशाक नासौ स्वपितुं क्षपायां
निमेषमात्रं पथि रुद्धवीर्यः ॥४०॥

शत्रुविजय की अभिलाषा से उत्कण्ठित, युद्ध करने की आकांक्षा से अतिशय उत्प्रेरित वह (बलि) मार्ग में अवरुद्ध-वीर्य होने के कारण (अर्थात् तत्काल

युद्ध न छिड़ जाने के कारण) रात्रि में एक क्षण भी, सो पाने में समर्थ नहीं हो सका।

निद्राति नो देहनिलीनचित्तं
यदि प्रमाथि प्रथिताभिधानम्।
लाभो नु कस्तर्हि शरीरसुप्त्या
यतो हि चित्तं विषयप्रमाणम् ॥४१॥

सुविदित प्रशस्ति वाला, शरीर में छिपा बैठा प्रमाथी मन यदि सो नहीं पाता है तो फिर (स्थूल) शरीर मात्र के सोने का क्या लाभ ? क्योंकि विषयों का प्रमाण तो मन ही होता है।

चचाल सेनाऽथ पुनः प्रभाते
समाप्तखेदाऽरिपुरीदिदृक्षुः।
पदान्युपेक्ष्येव मनोऽभिलाषै—
रग्रेसरन्ती प्रगुणाध्ववेगैः ॥४२॥

तदनन्तर, प्रभातवेला में थकावट दूर हो जाने पर शत्रुनगरी को देखने की आकांक्षा वाली दैत्यसेना ने, मानो पदगतियों की उपेक्षा करके मनोऽभिलाषाओं के ही जोर से, दूने मार्गवेग से प्रयाण किया।

यात्रापथं सर्वमतीत्य चान्ते
वैरोचनिर्देवपुरीमभीष्टाम्।
ससाद तारापथलम्बमान—
ध्वजायुतां दूरत एव लक्ष्याम् ॥४३॥

अन्ततः सम्पूर्ण यात्रापथ को पार कर विरोचनपुत्र बलि लक्ष्यभूता देवपुरी अमरावती तक आ पहुँचा जो कि दूर से ही दिखाई पड़ रही थी और आकाशमण्डल में फहराते हुए हजारों ध्वजों से शोभायमान थी।

आकाशगङ्गाजलभारनम्रै—
मन्दानिलैश्शीतलशीतलैर्या ।
उपात्तकल्पद्रुमदिव्यगन्धैः
स्फुटीकृताऽऽसीन्निकटस्थितेव ॥४४॥

आकाशगंगा की जलकणिकाओं (फुहारों) के भार से बोझिल, अत्यधिक शीतल तथा पारिजात के दिव्य सौरभ से सुवासित मन्द पवनों द्वारा जो (अमरावती) प्रत्यक्षतः निकटवर्तिनी प्रतीत हो रही थी।

समन्ततो वारिदवृन्दपृष्ठ—
प्रकीर्णदेवेन्द्रधनुस्सुवर्णैः ।
सुरावतीत्वं स्फुटमेव यस्या
आसीदनाख्यापितमप्यनल्पम् ॥४५॥

चारो ओर, घनघटाओं के पृष्ठ भाग पर फैले हुए इन्द्रधनुष के सुन्दर (सात) रंगों के कारण जिस नगरी का 'सुरावती होना' बिना बताए ही, अत्यधिक स्फुट (स्पष्ट) प्रतीत हो रहा था।

ऐरावतस्योद्धतचीत्क्रियाभि-
र्ह्रेषाभिरुच्चैःश्रवसश्च यस्याः ।
सुदुर्लभं रूपविबोधचिह्नं
सुस्पष्टमासीन्ननु वीतशङ्कम् ॥४६॥

ऐरावत के उद्दण्डता भरे चीत्कारों तथा उच्चैःश्रवा की तीखी हिनहिनाहटों के कारण जिस अमरावती के स्वरूपज्ञान का अत्यन्त दुर्लभ प्रमाण, बिना किसी आशंका के सुस्पष्ट हो रहा था।

अरिवरनगरीं तां स्वप्नसन्दृष्टरूपां
नयनयुगसमक्षं निर्भरं वीक्षमाणः ।

दितिकुलजलधीन्दुर्वीरवैरोचनिस्सः
समधिकपरितोषं प्राप चञ्चज्जयेच्छः ॥४७॥

सपनों में साक्षात्कृत रूप वाली, शत्रुओं की उस श्रेष्ठ पुरी को, नयन-युगल के समक्ष ही जी भर देखते हुए, विजय की प्रबल कामना वाले, दितिकुलरूपी सागर में उत्पन्न चन्द्रतुल्य वीर विरोचनपुत्र उस बलि ने प्रभूत परितोष का वरण किया।

हृदयविवररिङ्खच्चण्डयुद्धाभिमन्त्रो
भुजयुगलविनृत्यद्युद्धकण्डूतिलीलः ।
चरणयुगलदीव्यद्युद्धभूमिप्रवेशो
बलिरभवदधीरः कालविक्षेपहेतोः ॥४८॥

जिसके हृदय के भीतर भयावह युद्ध का संकल्प तरंगित हो रहा था, जिसकी दोनों भुजाओं में युद्ध की कण्डूतिलीला (खुजली) नाच रही थी, जिसके दोनों चरणों में युद्धभूमि का प्रवेश-क्षण मचल रहा था ऐसा बलि (युद्धविहीन) समय व्यर्थ बीतने के कारण अधीर हो उठा।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणो राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाप्याऽनघम् ॥४९॥

कवित्वशिखरभूत, श्रेष्ठ मौक्तिक सरीखे व्यक्तित्व वाले जिस पुत्र को, वन्दनीया जननी देवी अभिराजी ने, शुक्ति (सीपी) के समान अपनी कोख में (पिता) दुर्गाप्रसाद के अंश से उत्पन्न किया—अग्रज देवेन्द्र तथा अनुज सुरेन्द्र के मध्य मणिकल्प उसी राजेन्द्रमिश्र द्वारा, अपने हृदय की परितुष्टि के लिये, भगवान् वामन का निष्पाप यश, देववाणी संस्कृत के माध्यम से प्रकाशित किया जा रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीबिल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५०।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव के संस्कृतगीत जिसके पत्र हैं, विल्हण की उक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है--निसर्गजात वह 'अभिराजराजेन्द्र' रूपी काव्यद्रुम चिरजीवी हो !!

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
बलिप्रतापाभिधो द्वितीयः सर्गः

•

# तृतीयः सर्गः

स ददर्श सुरेन्द्रपालितां नगरीं दूरत एव शोभिनीम् ।
समरव्यसनो जयेच्छुको बलिरिद्धाममरावतीं शुभाम् ।।१।।

समर की मनोवृत्ति वाले, विजय के इच्छुक उस (दैत्यराज) बलि ने दूर से ही सौन्दर्य बिखेरने वाली, पवित्र एवं समृद्ध देवराज इन्द्र द्वारा पालित अमरावती पुरी को देखा ।

परितः परिधिं विधाय सः सुभटानां निरुरोध सत्वरम् ।
भयसङ्कटभूरिवैक्लवं जनयामास सपत्नमण्डले ।।२।।

राजधानी के चारों ओर दैत्यभटों का घेरा बना कर बलि ने शत्रुजनों (देवताओं) के समाज में, वेगपूर्वक, भय और संकट से उत्पन्न अपार विकलता पैदा कर दी ।

समरं भवतात्समर्पणं यदि वाऽऽक्रान्तविपन्नपक्षतः ।
उभयी गतिरेव नापरा ननु युद्धस्य जयैकसाक्षिणः ।।३।।

विजय के एकमात्र साक्षी युद्ध की तो बस दो ही स्थितियाँ होती हैं--तीसरी नहीं ! या तो (दोनों पक्षों में) समर हो, या फिर आक्रान्त एवं विपन्न (पराजित) पक्ष द्वारा आत्मसमर्पण !!

सचिवैस्सह क्लृप्तमंत्रणो दनुजेशो बलिरात्मयन्त्रितः ।
पुरुहूतसमर्पणं प्रति समयं दातुमियेष पुष्कलम् ।।४।।

आत्मसंयमी दानवराज बलि ने, अमात्यों के साथ मन्त्रणा सम्पन्न कर, देवराज इन्द्र को अपनी पराजय मानने के लिये प्रभूत समय देने का निश्चय किया ।

**विजहार स निर्भयं पुरे स्वजनैर्मित्रचयैः सहामितैः ।**
**क्वचिदेकल एव दैत्यपो वनवाटीनलिनीसरित्तटे ।।५।।**

(अब) वह दैत्यपति बलि कभी तो अकेले ही (और कभी) असंख्य स्वजनों तथा मित्रसमूहों के साथ, निर्भय होकर, वन-वाटिका पुष्करिणी तथा नदीपुलिन से युक्त पुरी में विहार करने लगा ।

**निपपौ नयनैस्स नन्दनं नयनानन्दनमार्तिभञ्जनम् ।**
**ऋतुचक्रविलासमण्डितं रमणीयं रमणीजनैर्युतम् ।।६।।**

उसने देवाङ्गनाओं से भरे-पुरे, षड् ऋतुओं के विलास से समृद्ध, नेत्रों को आनन्दित कर देने वाले, अवसाद को हर लेने वाले रमणीय नन्दनवन को (मानो हजार-हजार) आँखों से, डूब कर देखा ।

**युग्मकम्**

**क्वचिदुन्मदभृङ्गमण्डलैः कुसुमामोदमरन्दमार्मिकैः ।**
**अचिरागतयौवनोल्लसन्नवकल्पद्रुममञ्जरीश्रितैः ।।७।।**
**मधुमाधवमासवैभवाक्षयगाथामधुगानतत्परैः ।**
**निचितञ्च दधद्भिरार्जवैः रतिनेत्रभ्रुकुटिच्छविं पराम् ।।८।।**

वह नन्दन कानन, पुष्पों की सुगन्ध एवं आसव का स्वाद जानने वाले, सद्यः समागत यौवन (परिपाक) से ओतप्रोत कल्पद्रुम की नूतन मंजरियों पर बैठे, चैत्र एवं वैशाख मास के वैभव की अक्षय कीर्तिकथा के मधुरगायन में तत्पर तथा (अपनी) ऋजुता (अचंचल गति) के कारण कामप्रिया रति की (काली) भौंहों की उत्कृष्ट छवि को धारण करते हुए, मदमत्त भ्रमरों की मण्डली से कहीं-कहीं पर संकुल था ।

**नवकुड्मलपुष्पसत्फलैस्त्रिभिरप्येकपदं समन्वितैः ।**
**कथयद्भिरनोकहैर्दशां त्रितयीञ्चापि विमण्डितं क्वचित् ।।९।।**

अन्यत्र कहीं (वह नन्दनवन) नवीन कुड्मल, पुष्प तथा सुन्दर फल—इन तीनों से एक ही साथ समन्वित वृक्षों द्वारा श्रीमण्डित था जो मानों (उन तीनों के माध्यम से) शैशव, यौवन तथा वार्द्धक्य दशाओं को अभिव्यक्त कर रहे थे ।

पवनाहतिचञ्चलोर्मिभिर्लसितं पुष्करिणीभिरङ्गणे ।
क्वचिदुन्मदहंससारसबककारण्डविनीभिराकुलम् ॥१०॥

कहीं पर (वह नन्दनवन) वायु के झकोरों से उफनती लहरों वाली तथा मदमत्त हंस, बत्तख, बक एवं कारण्डव पक्षियों से युक्त—प्रांगण में स्थित पोखरियों से संकुल था ।

स पुरन्दरनन्दनेऽद्भुतां समपश्यत् सुषमां मनोहरीम् ।
अनुभूतचरीं न पूर्वतो न च दृष्टां न पुनश्श्रुतामपि ॥११॥

दैत्यराज बलि ने पुरन्दर (इन्द्र) के नन्दनवन में (ऐसी) मनोहारिणी सुषमा का निरीक्षण किया जो न तो उससे पूर्व उसके अनुभव का विषय बनी थी, न ही देखी गई थी और न ही सुनी जा सकी थी ।

सहकारसुपीनवक्षसि सुखसुप्तां ननु पुष्पिणीं लताम् ।
अनुरागवतीं ददर्श स विटपाश्लेषवतीं नु मालतीम् ॥१२॥

आम्रवृक्ष के भारी-भरकम तने पर प्रीतिपूर्वक लिपटी हुई, पुष्पभार से बोझिल, लाल कोपलों से युक्त तथा शाखाओं में उलझी मालती लता को बलि नें देखा (जैसे कोई रजस्वला प्रणयिनी प्रियतम के आलिङ्गन में बँधी, अपने सहचर के पीन वक्षस्थल पर, संभोगसुख की तृप्ति का व्रत लेकर पसरी हो)

कुमुदं क्वचिदर्धमीलितं विधुनिष्ठं तरणौ पराङ्मुखम् ।
स ददर्श विलुप्तवैभवं शुभकालागमशंसि पल्वले ॥१३॥

(दैत्यराज) बलि ने कहीं किसी तलैया में विलुप्त विभुता (सुषमा) वाले अर्धसंकुचित कुमुद-पुष्प को देखा जो चन्द्रमा के प्रति अनुरक्त (किन्तु) सूर्य से पराङ्मुख था तथा अनुकूल समय के आने (निशागम) की कामना में लीन था ।

विषमच्छदसान्द्रमण्डपे रवितापापहृतिप्रशिक्षिते ।
स्फटिकोपलचारुवेदिका क्वचिदुच्चैर्नु जहार तन्मनः ॥१४॥

कहीं पर, सूर्य के ताप को दूर कर देने में समर्थ, सप्तपर्ण वृक्ष की सघन छाया में (स्थापित) स्फटिक पत्थर से निर्मित ऊँची मनोरमा वेदी ने बलि का मन बरबस आकृष्ट कर लिया ।

युग्मकम्

बकुलैः सुमकोरकाञ्चितैः फललुब्धारुणनेत्रसेवितैः ।
फलपातसमुत्थवल्लकीमृदुनादभ्रमदक्षनिःस्वनैः ॥१५॥
जलचारिविहङ्गमव्रजैः शिशुभेकैश्च गृहाङ्गणीकृतम् ।
नलिनीतटमैक्षत क्वचिच्चटुवार्तारतहंसमण्डलम् ॥१६॥

कहीं पर बलि ने, प्रणयचाटूक्तियों में डूबे हंस-समवाय से युक्त (उस) पुष्करिणी के तट को देखा जिसे जलचारी पक्षियों की टोलियों तथा नन्हें मेढकों ने अपने घर का आँगन बना रखा था और जहाँ पुष्पकोरकों से समन्वित, फललोभी कोकिलों से सेवित तथा (पोखर के जल में) फलों के गिरने से उत्पन्न, वीणा की मीठी झंकार का भ्रम पैदा करने में समर्थ ध्वनि वाले बकुल (मौलसिरी) के वृक्ष विद्यमान थे ।

दिवसेऽपि दिनाधिनायकं कलिकोत्तुङ्गशिखाप्रभाभरैः ।
स समर्चयदात्मगर्वितं दनुजेन्द्रो नु ददर्श चम्पकम् ॥१७॥

(प्रकाशयुक्त) दिवसवेला में भी, अपनी कलियों के उत्तुङ्ग शिखरों से फूटते दीप्तिसमूह से दिननायक सूर्य को समर्चित करते हुए आत्मगर्वित चम्पक पुष्प को उस दनुजेश्वर बलि ने भलीभाँति देखा ।

युग्मकम्

दयितं परदेशवासिनं गृहमेतं प्रविलोक्य दूरतः ।
नयनाम्बुसमूहवर्षिणीं विरहार्तामिव खण्डितां प्रियाम् ॥१८॥

स ददर्श रवौ समागते परितः सन्ततसूनवर्षिणीम् ।
मिहिकाजलबिन्दुभङ्गुरां नवशेफालिललाममञ्जरीम् ॥१९॥

परदेश में रहने वाले तथा घर आये वल्लभ को दूर से ही भलीभाँति निहार कर, नयनाश्रुधारा बरसाने वाली विरहविधुरा किसी खण्डिता नायिका के समान शेफालिका (हर्रसिगार) की उस नूतन ललाम मंजरी को वलि ने देखा जो कि सूर्योदय होते ही, चतुर्दिक निरन्तर प्रसूनवर्षा में लीन थी तथा ओस की बूंदों से बोझिल थी ।

कुटजं सितवृन्तमण्डितं नवसौरभ्यहृतालिमण्डलम् ।
क्वचिदैक्षत दैत्यनायकः सुरनाथोपवने विकस्वरम् ॥२०॥

दैत्यनायक वलि ने इन्द्र के (उस) उपवन में कहीं पर श्वेत पुष्पवृन्त से विभूषित, नवीन परिमल से भौंरों की टोली को आकृष्ट करने वाले तथा पोर-पोर विकसित कुटज वृक्ष को देखा ।

क्वचिदैक्षत वेणुसञ्चयं शतशाखाकृतकुञ्जमण्डपम् ।
प्रविलीनविहङ्गयुग्मकं मृदुकोलाहलपूरितान्तरम् ॥२१॥

वलि ने (नन्दनवन में) कहीं पर, सैकड़ों शाखाओं द्वारा कुन्ज-मण्डप की रचना करने वाले, घुसे बैठे पक्षियों के जोड़ों वाले तथा (उनके) मीठे कलरव से परिपूर्ण अवकाश वाले वेणुवन को देखा ।

क्वचिदैक्षत शिंशपाचयं श्रुतिताटङ्कनिभैः फलोत्करैः ।
परिभूषितमन्तरान्तरा निपतत्कोमललोलकुड्मलम् ॥२२॥

कहीं पर (वलि ने) शीशम के वृक्षों को देखा जो कि बीच-बीच में कर्णाभूषण के समान प्रतीत होने वाले फलों के गुच्छों से अलंकृत थे और जिनसे टूट कर नरम तथा अस्थिर कुड्मल (कलियाँ) नीचे गिर रहे थे ।

कदलीतरुषण्डमायतं फलभारावनतं विपाण्डुरम् ।
परिणामसुखावगाहि तत् हरितञ्चापि ददर्श लोचनैः ।।२३।।

दूर-दूर तक फैले कदली वृक्षों के झुरमुटों को बलि ने (द्वयाधिक) नेत्रों से देखा जो फलों के भार से झुके हुए, परिपाक के सुख का अवगाहन करने वाले (अतएव) अतिशय पियराए हुए अथवा हरे (कच्चे) रंग के भी थे ।

व्रतती न च का न को द्रुमः कुसुमं किन्न सुगन्धमेदुरम् ।
क इवौषधिरत्रनन्दने न पदं प्राप यथोचितस्थलम् ।।२४।।

भला कौन (ऐसी) लता, कौन (ऐसा) वृक्ष, शोभन गन्ध से बोझिल कौन (ऐसा) पुष्प अथवा कौन (ऐसी) जड़ी-बूटी थी जो कि (उस) नन्दनकानन में यथोचित स्थल पर स्थानापन्न न हो ?

प्रमदाः स ददर्श देवताः धृतक्रीडाः सरसीजलोच्चये ।
अभिरामललामवीक्षणा मधुहासा मधुवैखरीधराः ।।२५।।

पोखर की जलराशि में जलविहार करतों, मिठासभरी वाणी व्यक्त करने वालीं, मीठी हँसी वालीं तथा रमणीय एवं आकर्षक चितवन वाली देवसुन्दरियों को बलि ने देखा ।

परिखात्वमुपेयुषीन्नु तां सुरसिन्धुं स ददर्श पावनीम् ।
परिरभ्य मुदाऽमरावतीं सदयं या विरराज कण्ठगा ।।२६।।

दैत्यराज बलि ने परिखाभाव को प्राप्त करने वाली पवित्र सुरसिन्धु (गंगा) को देखा जो कि अमरावती पुरी को प्रीतिपूर्वक आलिङ्गित कर, ममतापूर्वक उसके गले से लगी शोभित हो रही थी ।

परिवर्त्य वपुस्स मायया नगरीं देवमयीं ददर्श ताम् ।
प्रविभक्तपथां प्रभोज्ज्वलां रचितां शिल्पगविश्वकर्मणा ।।२७।।

अपनी माया से रूप का परिवर्तन करके, उस बलि ने देवताओं से भरी-पुरी उस नगरी को देखा जो कि शिल्पवेत्ता विश्वकर्मा द्वारा (मनोयोगपूर्वक) निर्मित की गई थी। प्रभा से उज्ज्वल एवं सम्यक् रूप से विभक्त राजमार्गों वाली थी वह!!

## सन्दानितकम्

स्फटिकायितगोपुरैः क्वचिद् गगनोत्तुङ्गशिखैर्विभूषिताम् ।
मणिरत्नसुवर्णमण्डितैर्ननु सौधैः क्वचिदूर्ध्वकेतनैः ।।२८।।

कहीं-कहीं पर स्फटिकमणि के समान दीखते गगनचुम्बी शिखरों वाले गोपुरों से विभूषित और कहीं-कहीं पर मणियों, रत्नों एवं सुवर्णों से श्रीमण्डित तथा ऊर्ध्व पताकाओं वाले राजप्रासादों से युक्त।

पुरवीथिसभागृहोच्चयैर्हयहस्त्यादिनिवासमन्दिरैः ।
वलभीविपणीष्टहट्टकैः शुचिशृङ्गाटकचत्वरादिभिः ।।२९।।

नगरवीथियों तथा सभागृहों के समूहों से, अश्वों तथा गजों के निवासस्थानों से, वलभियों, विपणियों तथा मनोरम बाजारों से, तथा पवित्र चतुष्पथों एवं चबूतरों से अलंकृत।

अयुतायुतदेवमन्दिरैः सुखवातायनमण्डपाञ्चितैः ।
मणिहीरकविद्रुमान्वितैरतिरम्यां स ददर्श तां पुरीम् ।।३०।।

सुखद वातायनों तथा मण्डपों से विभूषित, मणियों हीरों तथा विद्रुमों (मूंगो) से समन्वित हजारों देवमन्दिरों के कारण अति रमणीय प्रतीत होने वाली उस अमरावती पुरी को बलि ने देखा।

परिगृह्य सुराङ्गनालकच्युतसौगन्धिकमाल्यसौरभम् ।
मरुदेति विनीतभृत्यभः सततं यत्र सुगन्धमेदुरः ।।३१।।

जिस पुरी में देवाङ्गनाओं के केशकुन्तलों से च्युत सौगन्धिकों (कमलपुष्पों) की माला का सौरभ समेटे हुए, सुगन्ध से बोझिल पवन, विनीत सेवक के समान निरन्तर संचरण करता रहता है।

मणिहर्म्यगवाक्षनिष्पतद्घनधूमावरणैस्तिरस्कृताः ।
अभिसाररताः सुराङ्गनाः ससुखं यत्र चरन्त्यशङ्किताः ।।३२।।

मणिखचित राजमहलों की खिड़कियों से बाहर निकलते, सघन धूमावरणों से तिरोहित की गई अभिसाररत देवाङ्गनाएँ जहाँ निर्विशंक भाव से सुखपूर्वक संचरण किया करती हैं।

विहरन्ति विमानसंश्रिताः कलकण्ठोद्गतगीतमङ्गलाः ।
रतिरूपसमत्वगर्विताः सुरलोकाप्सरसो यदङ्गणे ।।३३।।

जिस अमरावती की अँगनाई में—विमानों, (बारादरियों) में विराजमान, सुरीले कण्ठों से कढ़ते मंगलगीतों वाली तथा कामप्रिया रति के रूपसाम्य से गर्वित देवलोक की अप्सराएं—विहार किया करती हैं।

पणवानकशृङ्गदुन्दुभिझल्लरिकांस्यमृदङ्गवेणुभिः ।
कलनादविपञ्चिकास्वरैर्नितरां या नु जिजीविषाञ्चिता ।।३४।।

ढोल, पटह (नगाड़ा) शृंग, दुन्दुभि (तुरही) झल्लरी, कांस्यदण्ड, मृदंग एवं वंशियों से तथा मधुर नाद उत्पन्न करने वाली वीणाओं के सप्तस्वरों से जो अमरावती निरन्तर 'जिजीविषा' से ओतप्रोत प्रतीत होती थी।

विविधैः किल लास्यताण्डवैः श्रुतिरागान्वितवल्गुगायनैः ।
विदधुस्सततोत्सवाञ्च यां सुरवामादिकलाविशारदाः ।।३५।।

देववनिताप्रभृति कलापारंगत रमणियाँ, नाना प्रकार के (कोमल) लास्यों तथा (कठोर) ताण्डवों से तथा (इक्कीस) श्रुतियों एवं रागों से समन्वित मनोरम गायनों से, जिस अमरावती को सदाबहार उत्सवों से सम्पन्न किये रहती थीं।

उपवीणयतिस्म तुम्बुरुर्मधुलास्यं कृतवत्यथोर्वशी ।
जगतुश्च हहा हुहू कलं विदधे चित्ररथश्च ताण्डवम् ।।३६।।

(जिस अमरावती में) तुम्बुरु वीणा बजाया करता था औ उर्वशी मधुर लास्य प्रस्तुत किया करती थी । हहा (हाहा) एवं हूहू बन्धुद्वय रमणीय गायन करते थे तथा (गन्धर्वराज) चित्ररथ ताण्डव-प्रयोग किया करता था ।

सतताममृतमोदवर्षिणी स्मरसौख्याक्षतपूर्वपीठिका ।
पुरुहूतसभाऽमरावतीं विदधे कस्य न भूरिविस्मयम् ।।३७।।

नित्यप्रति अमृताह्लाद की वर्षा करने वाली, कन्दर्पसुख की अक्षत पूर्व-पीठिका जैसी देवराज इन्द्र की (सुधर्मानामक) सभा, अमरावती पुरी को किसके लिये विस्मयावह नहीं बनाती थी ।

सन्दानितकम्

परपीडनतत्पराः खलाः परनिन्दारसलोलुपाः शठाः ।
गरलाक्तमुखा अधार्मिका धृतपापा अनिमित्तवैरिणः ।।३८।।

पर-पीडन में लगे हुए दुष्ट प्राणी, परनिन्दा के रसलोभी शठ लोग, विषाक्त वचन बोलने वाले, अधार्मिक पापपरायण, अकारणवैरी ।

मदमोहछलप्रवञ्चनैः परवित्ताहरणैरसूयया ।
विविधैश्च कलङ्ककल्मषैः श्रितकाया अमनस्विनोऽपि ये ।।३९।।

मद मोह छल एवं प्रवञ्चना द्वारा, परवित्तापहरण, निन्दा तथा नाना प्रकार के कलंकों एवं पापों से जीवनयापन करने वाले जो मनोबलहीन प्राणी हैं ।

न कदापि महोदयां पुरीमृतसत्यैकमनोज्ञसंश्रयाम् ।
व्रजितुं खलु शक्नुवन्ति यां सुरदेवर्षिमहर्षिनाकिनाम् ।।४०।।

(ऐसे लोग) देवताओं, देवर्षियों तथा स्वर्गसुख भोगने वाले लोगों की महोदय-शालिनी, ऋत-सत्यरूपी एकमात्र मनोज्ञ संश्रय वाली जिस पुरी में, कभी भी पहुँचने में समर्थ नहीं हो पाते हैं।

**नगरीं खलु तादृशीं च तां श्रितपुण्याममृतान्धसां पराम्।**
**परितोऽपि विलोक्य पुष्कलं परितोषं न जगाम दैत्यपः ॥४१॥**

उस प्रकार के वैभव-ऐश्वर्य वाली, पुण्यवती देवताओं की उस श्रेष्ठ नगरी को सर्वतः देखने के बाद भी दैत्यराज बलि भरपूर परितोष को नहीं प्राप्त कर सका।

**समरव्यसनैश्च दारुणैः सुरधान्यक्षतरामणीयकम्।**
**तदियेष बलिर्न भञ्जितुं दयमानो हि निसर्गपक्षभृत् ॥४२॥**

प्रकृति-प्रणयी तथा दयालु मनोवृत्ति वाला बलि, दारुण समराभियान द्वारा देवताओं की राजधानी की अक्षत रमणीयता को विनष्ट करने में अनिच्छुक सा हो उठा।

**स तथापि वरूथिनीपतिर्विजिगीषुर्हि विरोचनात्मजः।**
**नृपतन्त्ररहस्यकोविदो रुरुधे देवपुरीं समन्ततः ॥४३॥**

फिर भी विजयाकांक्षी, सेनापति विरोचनपुत्र ने, जो कि राजनीति के रहस्यों में पारंगत था, देवपुरी को चारों ओर से घेर लिया।

**भुजगस्स वृथा न दुर्विषो नखदंष्ट्रारहितोऽथ केसरी।**
**ऋतपस्स वृथाऽजितेन्द्रियो नृपतिश्चापि तितिक्षया हतः ॥४४॥**

निरर्थक है वह सर्प जो दुर्विषयुक्त नहीं और निरर्थक है वह सिंह, जो नखों तथा दंष्ट्राओं से विहीन है। व्यर्थ है वह ऋत (सत्य) रक्षक जो अजितेन्द्रिय है और वह भूपाल भी व्यर्थ है जो तितिक्षा (वैराग्य) का मारा हुआ है।

**नृपतेः किल कोशदण्डजं स्फुटतेजो हि प्रताप उच्यते ।**
**स च नैव विना रिपुक्षयं कथमप्यस्ति निसर्गसम्भवः ।।४५।।**

कोश एवं दण्ड से उत्पन्न होने वाला राजा का प्रत्यक्ष तेज ही 'प्रताप' कहा जाता है । वह 'प्रताप' शत्रुविनाश के बिना, किसी भी प्रकार सहजतापूर्वक संभव नहीं होता है ।

**ज्वलनो हि यथा निसर्गतोऽखिलदाहक्षम इन्धनं विना ।**
**स्वयमेति शमं नृपस्तथा म्रियते वैरिविमर्दनं विना ।।४६।।**

जैसे अग्नि, स्वभावतः सब कुछ भस्म कर देने में समर्थ होता हुआ भी, इंधन के अभाव में स्वयमेव शान्त हो जाता है उसी प्रकार राजा भी शत्रुविमर्दन किये बिना (स्वयं) विनष्ट हो जाता है ।

**अतएव रणोद्यमोऽप्ययम् इतिकर्तव्यतया मयाऽधुना ।**
**शिरसा ननु धार्य एव हि क्व नु संघर्षमुपेक्ष्य गौरवम् ।।४७।।**

'इसलिये यह रणोद्यम 'इतिकर्तव्यता' की भावना से ही सम्प्रति मेरे द्वारा शिरोधार्य किया जाना चाहिये । क्योंकि संघर्ष की उपेक्षा करके गौरव कहाँ प्राप्त होता है ?'

**मनसीत्थमसौ धिया श्रयन् जलजं भैरवनादकारिणम् ।**
**गुरुदत्तममोघविक्रमं ननु दध्मौ गगनावकाशगम् ।।४८।।**

अपने मन में इस प्रकार बुद्धिबल से विचार करते हुए बलि ने भगवान् शुक्राचार्य द्वारा दिये गये अमोघ पराक्रम वाले, भैरव नाद उत्पन्न करने वाले तथा गगनान्तराल तक गूँजने वाले शंख को फूँका ।

**तदनन्तरमेव यूथपा दनुजेन्द्रस्य परेऽपि दारुणाः ।**
**जलजान् किल दध्मुरूर्ध्वगान् जनयन्तो भयमिन्द्रयोषिताम् ।।४९।।**

उसके अनन्तर ही, दानवेन्द्र बलि के अन्यान्य महाबली सेनापतियों ने भी, देवराज इन्द्र की अन्तःपुर-रमणियों को भयभीत करते हुए, ऊर्ध्वगामी शंखों को बजाया।

सहसैव पयोदगर्जितैर्विजनं भूरि यथा विकम्पते।
पृथुशङ्खरवैस्सुरावती भयकम्पौ निदधे तथैव सा ॥५०॥

अकस्मात् ही बादलों की गर्जना से जैसे अरण्य अतिशय प्रकम्पित हो उठता है, विशाल शंखों के नादों से उस अमरावती पुरी ने भी, उसी प्रकार भय एवं कम्पन का अनुभव किया।

कोलाहलैः किलकिलाध्वनिभिः प्रपूर्णा
क्षिप्रैर्गतागतचयैश्च सुराङ्गनानाम्।
सञ्जातदारुणविनाशयुगान्तशङ्का
क्लैव्यं गता बलिभियाऽमरराजधानी ॥५१॥

कोलाहलों एवं किलकिला ध्वनियों से पूरित तथा (भयभीत) देवाङ्गनाओं की त्वराभरी आवाजाहियों से जिसके लिये दारुण विनाश वाले युगक्षय की आशंका उत्पन्न हो गई थी—ऐसी देवताओं की राजधानी दैत्यराज बलि के भय से विकलता को प्राप्त हो उठी।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥५२॥

कवित्वशिखरभूत, श्रेष्ठ मोती जैसे व्यक्तितव वाले जिस पुत्र को, वन्दनीया जननी अभिराजी देवी ने, सीपी के समान अपनी कोख में, पिता दुर्गाप्रसाद के अंश से उत्पन्न किया—अग्रज देवेन्द्र तथा अनुज सुरेन्द्र के मध्यवर्ती मणि के समान उसी राजेन्द्र मिश्र द्वारा, स्वहृदयपरितोषार्थ भगवान् वामन का उत्तम यश, देववाणी संस्कृत के माध्यम से प्रकाशित किया जा रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥५३॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव के देववचन जिसके पत्ते हैं, विल्हण की उक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—निसर्गजात वह 'अभिराजराजेन्द्र' रूपी काव्यद्रुम चिरंजीवी हो।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्येऽ
मरावतीग्रहणाभिधस्तृतीयः सर्गः

• •

# चतुर्थः सर्गः

अथ विलोक्य पुरीं भयविह्वलां
परिगतां दनुजैश्च समन्ततः ।
हृदि बलाबलभावमपि स्वकं
विगणयन् मघवा भयमादधे ।।१।।

इसके अनन्तर राजधानी को चारों ओर से दैत्यों द्वारा परिगत एवं भयविह्वल देखकर तथा हृदय में अपने बलाबल का आकलन कर देवराज इन्द्र भयभीत हो उठे ।

बलिममुं किल पूर्वजितं रणे
सुरपतिः प्रभविष्णुरपि ध्रुवम् ।
समवलोक्य पराक्रमगर्वितं
परमविस्मयभावमुपागतः ।।२।।

समरभूमि में पहले जीत लिए गये उस दैत्यराज बलि को (अब) निश्चित रूप से पराक्रम से गर्वित देख कर प्रभावशाली देवराज परम विस्मय के भाव को प्राप्त हो उठे ।

कुलिशमैक्षत सोऽस्थिविकारजं
हतबलं सुसहं परिकुण्ठितम् ।
अभवदभ्रमुकामुकचीत्कृतं
न किल साधितसङ्गरसाहसम् ।।३।।

इन्द्र ने महर्षि दधीचि की अस्थियों से निर्मित (अपने) वज्र को निर्बल, आघात-सह्य तथा परिकुण्ठित देखा । ऐरावत की चिग्घाड़ भी समर-साहस को जगाने वाली नहीं रह गई ।

स च हयोत्तमहासरवं पुराऽ-
सकृदमन्यत यं रणसम्बलम् ।
स्फुटमभासत सोऽपि विहासको
बलिबलोच्चयजातभियोऽधुना ॥४॥

इन्द्र ने पूर्वकाल में, जिस हयश्रेष्ठ उच्चैःश्रवा की हिनहिनाहट को बार-बार अपने समर का सम्बल स्वीकार किया था सम्प्रति, बलि के पराक्रम-सम्भार से उत्पन्न भय वाले उनके लिये वही 'हिनहिनाहट' स्फुट रूप से अपनी हँसी प्रतीत होने लगी।

अभिननन्द न नन्दनकाननम्
ऋतुसमूहसुखोत्सवभाजनम् ।
मनसि सौख्यविभूतिविभावके
प्रतिगते क्व नु बाह्यविनोदनम् ॥५॥

छहों ऋतुओं से उत्पन्न होने वाले सुखोत्सवों के केन्द्रविन्दु नन्दन-कानन का भी इन्द्र ने अभिनन्दन नहीं किया। सुखैश्वर्य का अनुभव कराने वाले मन के प्रति-गामी वन जाने पर बाहरी विनोद भला किस काम का ?

व्यतिकरे नु जयाजयकारके
रणभटोच्चयसम्मुखमागते ।
प्रथममेव मनो हि परीक्ष्यते
जयपराजयहेतुरदो यतः ॥६॥

जय अथवा पराजय-कारक सन्दर्भ जव रणशूर योद्धाओं के सम्मुख उपस्थित हो जाता है तब सर्वप्रथम मन की ही परीक्षा होती है क्योंकि वही जय अथवा पराजय का (मूल) कारण होता है।

सुकृतिनां सततं नियतात्मनां
विधिनियोगविभावितवर्त्मनाम् ।

मतिमतां मन एव हि संशये
भवति साधु बलाबलकारणम् ।।७।।

जो निरन्तर आत्मसंयम से सम्पन्न हैं, जो प्रत्येक कार्य को विधिनियोग (ईश्वरेच्छा) का परिणाम मानते हैं—ऐसे धीमानों के लिए, संशय की घड़ी में, मन ही बल एवं अबल का समुचित हेतु प्रतीत होता है।

समवलोक्य बलेः परमुद्यमं
समनुभूय च मानसवैक्लवम् ।
निखिलदेवगणाऽनुगतो गतो
गुरुपद मघवा वचसांपतिम् ।।८।।

असुरराज बलि के महनीय (रण) उद्यम को देख कर तथा अपने मन की विकलता (भीरुता) का अनुभव कर मघवा (इन्द्र) समस्त देवमण्डली के साथ गुरुवर्य वृहस्पति के पास पहुँचे।

करुणया स्खलिताक्षरपूर्णया
विनयशीलसमन्वितभावया ।
स च जगाद गिरा गुरुतल्लजं
सुतपसां निधिमार्तिसदौषधम् ।।९।।

उन्होंने श्रेष्ठ तपस्याओं के भण्डारभूत तथा आर्तियों के (प्रशमनार्थ) उत्तम औषधि के समान श्रेष्ठ गुरु से करुण, स्खलिताक्षरों से भरी तथा विनयशील से समन्वित भावों वाली वाणी में कहा—।

युग्मकम्

अदितिवंशसुखोदयकारण !
प्रशमितामरसङ्कट ! सर्वदा ।
सुरगृहाङ्गणमङ्गलतोरण !
त्रिदशपूपरिरक्षणदीक्षित ।।१०।।

इति कान्तवचोभिरधीतमना
अदितिर्निजगाद पतिं महितम् ।
भवताऽपि च नाथवती दयिता
कुशलं किमु नो समुपैति विभो !!११॥

स्वामी की बातों को सुनकर, उनकी मनोवृत्ति से अवगत अदिति ने पूजनीय पति से कहा—हे नाथ ! आप जैसे (महामहिमशाली) पुरुष को पतिरूप में वरण करने वाली, भला कौन रमणी योग-क्षेम नहीं प्राप्त करेगी ?

अनिलोऽतिथयोऽपि च भिक्षुगणा
अयि देव ! मया नितराम्महिताः ।
व्यथितास्मि तथापि सुताभ्युदये
गलिते सति वत्सलतातपनैः ॥१२॥

हे देव ! मखाग्नियाँ, अतिथिगण तथा याचकजन—सभी मेरे द्वारा निरन्तर संतृप्त किये गये हैं । फिर भी मैं, अपने पुत्राभ्युदय के संकटापन्न हो जाने पर वात्सल्य की आँच में व्यथा (ताप) का अनुभव कर रही हूँ ।

व्यसनार्णवमज्जितजीवितका
हृतकीर्तियशोविभवस्वपदा ।
रिपुदत्तविवासनदुःखसहा
तनुजैरसह यामि परां विपदम् ॥१३॥

विपत्ति रूपी महार्णव में डूबी जीवनयात्रा वाली, कीर्ति-यश-वैभव तथा पदगरिमा (देवमातृत्व अथवा राजमातृत्व) से च्युत एवं शत्रुओं द्वारा प्रदत्त निर्वासन की पीड़ा को सहने वाली मैं अपने पुत्रों के साथ घोर विपत्ति में फँस गई हूँ ।

अमितं भवतात्सुखमत्र विभो !
सुदृशां सुतकान्तविभूतिकृतम् ।

अतियाति तथापि सपत्नधृताऽ
भ्युदयस्सकलं तदमोघसुखम् ।।१४।।

हे स्वामी ! सुलोचना नारियों को पुत्र एवं पति के वैभव से उत्पन्न चाहे अपरिमेय सुख इस लोक में क्यों न प्राप्त हो फिर भी वैरियों द्वारा प्राप्त अभ्युदय उस सम्पूर्ण अमोघ सुख को छोटा सिद्ध कर ही देता है ।

दनुजा अपि नाथ ! तवैव सुता-
स्तदवैमि तथापि सुताश्रयिणी ।
विपदां शमनाय तवाङ्घ्रियुगं
स्वमनोरथसिद्धिदमद्य भजे ।।१५।।

हे नाथ ! दानव भी आपकी ही सन्तान हैं । उसे मैं जानती हूँ । फिर भी अपने पुत्रों की आश्रिता मैं, विपत्तियों के शमनार्थ, अपने मनोरथों की सिद्धि में समर्थ आपके चरण-युगल में समर्पित हूँ ।

समदृष्टियुतोऽपि महेश्वरको
भजते निजभक्तमतीव मुदा ।
अतएव ममापि परं कुशलम्
अयि सुव्रत ! चिन्तय भक्तियुतः ।।१६।।

समदर्शी होते हुए भी भगवान् महेश्वर शिव अपने भक्त को प्रसन्नतापूर्वक कृपान्वित करते हैं । इसलिये हे सुव्रत ! आप भी भक्तिभावना में डूबी मेरे श्रेष्ठ कल्याण के विषय में सोचें ।

तनया मम यान्तु पुनर्विभवं
विजयं सुयशश्च यथा प्रसभम् ।
विधिमद्य विधेहि निधेहि दयां
दयमान विभो ! ननु धारय माम् ।।१७।।

जिस किसी प्रकार मेरे पुत्रगण (आदित्य) पुनरैश्वर्य, विजय एवं सुयश को त्वरितगति से प्राप्त करें, सम्प्रति वैसा ही विधान बनायें। हे दयामय! (मुझ पर) दया करिये तथा मुझे उबार लीजिये।

वनितावचनानि निपीय ततः
करुणावरुणालयकश्यपकः ।
अदितिं निजगाद लसद्धृदयां
त्यज देवि! विषादमिमं तरलम् ॥१८॥

करुणावरुणालय महर्षि कश्यप ने तब प्रिया के वचनों को ध्यानपूर्वक सुनकर, शोभन हृदय वाली अदिति से कहा—हे देवि! इस तरल विषाद का त्याग कर दो।

प्रभविष्णुरसि श्रुतितत्त्वगता
परमार्थरहस्यविकाशवती ।
सुतवत्सलतानिहतासि तथाऽ
व्ययि मानिनि! हन्त विचित्रमिदम् ॥१९॥

हे मानिनि! तुम प्रभविष्णु हो, वेद के रहस्यों में पारंगत हो, पारमार्थिक गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो! तथापि सन्ततियों के प्रति उत्पन्न प्रेम के कारण व्यथित हो रही हो (जो मोह मात्र है) अरे, यह तो विचित्र बात है!

क्व नु भौतिकतत्त्वशरीरमिदं
पृथगात्म विनाशि परः प्रकृतेः।
क्व च चिन्मय आत्मसुकीर्तिधरो
ननु बन्धनमुक्त इह प्रथितः ॥२०॥

कहाँ तो आत्मा (चैतन्य) से पृथक्, नाशवान् यह पाञ्चभौतिक शरीर और कहाँ प्रकृति से भी परे, चिन्मय, निर्बन्ध तथा आत्मसंज्ञक सुकीर्ति का भाजनभूत, इस लोक में प्रख्यात यह आत्मा?

जननी खलु का जनकोऽपि च क-
स्तनुजो भुवि कस्य च को नियतः ?
अयि देवि ! तथापि यदि व्यथसे
ननु कारणमत्र विमोहकृतम् ॥२१॥

भला इस पृथ्वी पर, स्थिर रूप से कौन (किसकी) जननी है, कौन (किसका) जनक है और कौन (किसका) पुत्र है ? हे देवि ! फिर भी यदि तुम व्यथित हो रही हो तो इसका मूल कारण तुम्हारा (सांसारिक) मोहमात्र है ।

परमं पुरुषं भगवन्तमजं
वसुदेवजमर्चय विश्वगुरुम् ।
स विधास्यति ते सफलं सकलं
सुसमीहितमाशु जनार्तिहरः ॥२२॥

तुम सम्पूर्ण सृष्टि के सिरजनहार अजन्मा परम पुरुष भगवान् वासुदेव की समर्चना करो । स्वजनों की आर्तियों को हरने वाले वही, शीघ्र ही तुम्हारी समस्त सुचिन्तित कामनाओं को सफल बनायेंगे ।

व्रतमेहि शुभे ! समभीष्टकरं
ननु केशवतोषणपूतपदम् ।
सितफाल्गुनपक्ष इह प्रथिते
चतुराननदिष्टमिदं विमलम् ॥२३॥

हे शुभे ! मनोऽभिलषित कामना को पूर्ण करने वाले 'केशवतोषण' नामक पवित्र संज्ञा वाले व्रत को तुम इसी फाल्गुनमास के शुक्लपक्ष में सम्पन्न करो । यह निर्मल व्रत भगवान् परमेष्ठी (ब्रह्मा) द्वारा बताया गया है ।

इदमस्ति पयोव्रतमार्तिहरं
हृदयस्थमनोरथपूर्तिकरम् ।

कठिनं तदपि प्रतिपत्तिधरं
हरिभक्तिकरञ्च विपत्तिहरम् ॥२४॥

हृदयस्थ मनोरथों को पूर्ण करने वाला, आर्तिनाशक, कठिन होते हुए भी आत्मबलवर्धक, हरिभक्ति-प्रेरक तथा विपत्ति-भञ्जक यह व्रत 'पयोव्रत' कहा जाता है।

वनकोलविदीर्णमृदाऽपघनं
ह्युपलिप्य शुभे ! सकलं स्नपयेत् ।
पृथिवीं प्रणमेच्च कुहूदिवसे
स्तुतिमंत्रपुरस्सरमित्थममुम् ॥२५॥

हे शुभे ! वन्य सूकर द्वारा उखाड़ी गई मिट्टी से समस्त अंगों में उपलेपन कर (इस व्रत में) स्नान करना चाहिये और इस प्रकार स्तुतिमंत्र का पाठ करते हुए अमावस्या के दिन भगवती वसुन्धरा को प्रणाम अर्पित करना चाहिये।

सकृदादिवराहधृते वसुधे !
गिरिकाननसागरभारधरे !!
अयि विष्णुप्रिये ! प्रणमामि नता
प्रणताहमियं कुरु मे कुशलम् ॥२६॥

'आदिवराह द्वारा एक बार (द्रंष्टा पर) धारण की गई, पर्वत-समुद्र एवं कान्तार-भार को वहन करने वाली हे विष्णुप्रिये ! नत एवं प्रणत यह मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप मेरा कल्याण करें !'

तदनन्तरमेव चरेद् व्रतकं
प्रतिपद्दिवसाद् द्विदशाहमदः ।
स्नपयेत्पयसा जुहुयात्पयसा
पयसैव करोत्वखिलं प्रविधिम् ॥२७॥

प्रणामाञ्जलि अर्पित करने के बाद ही उस 'पयोव्रत' को प्रतिपदा से द्वादशी तिथि तक सम्पन्न करना चाहिये। दूध से ही (भगवान् विष्णु को) स्नान कराना चाहिये। दूध से ही भोग (नैवेद्य) प्रस्तुत करना चाहिये। सारी की सारी व्रतविधि दूध से ही सम्पन्न करनी चाहिये।

अहनि त्रिदशे व्रतपूर्तिमिमां
कलयेद्गुरुभूसुरदेवपदे ।
प्रणतिश्च यथाविधि दानमपि
प्रणिधाय समर्प्य विनम्रधिया ।।२८।।

फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी के दिन गुरु, ब्राह्मण एवं देवता की सन्निधि में इस व्रत की पूर्ति करनी चाहिये। विनत बुद्धि से आत्मसमर्पण कर तथा प्रणत होकर नमस्कृति तथा यथाविधि दान भी देना चाहिये।

दिवसे-दिवसे च हरिस्तवने
मनसा विनतेन रतिं द्रढयेत् ।
शृणुयाच्चरितं कलुषान्तकरं
जुहुयाच्च यथाविधि भीतिभरम् ।।२९।।

दिन-प्रतिदिन विनम्र मनोवृत्ति के साथ, श्रीहरि के संस्तवन में प्रीति को दृढ़ बनाना चाहिये, पापों का विनाश करने वाले उनके चरितों का श्रवण करना चाहिये तथा अपने भय के भार को भी यथाविधि अपचित (कम) करना चाहिये।

विविधैश्च विशेषणरम्यपदै-
र्भुवनाधिपतिं तत आप्रथयेत् ।
अयि देव ! सनातन भूतपते !
हर मे विपदं विपदार्तिहर !!३०।।

'हे देव ! हे सनातन ! हे भूतपते ! हे विपदार्तिहर ! मेरा संकट दूर करिये !' इस प्रकार, नाना प्रकार के विशेषणयुक्त रमणीय पदों द्वारा भुवनाधिपति विष्णु की प्रशंसा करनी चाहिये।

युग्मकम्

शिव रुद्र महेश्वर ! केशव हे !
नवनीलबलाहककान्ततनो !
वरदर्षभ सूक्ष्म गुणज्ञ हरे !
जगदीश पुराण नरोत्तम हे !!३१।।

'हे शिव ! हे रुद्र ! हे महेश्वर ! हे केशव ! हे नूतन नीलमेघ-सदृश कान्त-काया वाले ! हे वरदर्षभ ! हे सूक्ष्म ! हे गुणज्ञ ! हे हरे ! हे जगदीश ! हे पुराण-पुरुष ! हे पुरुषोत्तम !'

करुणावरुणालय मालय हे
पुरुषोत्तम ! पूरय मे हृदयम् ।
स्वजनार्तिहर ! प्रणतेष्टकर !
प्रसभं नय देव ममाधिमिमम् ।।३२।।

'हे करुणासागर ! हे लक्ष्मीपते ! हे पुरुषश्रेष्ठ ! मेरे हृदय (अर्थात् आकांक्षा) को पूर्ण कीजिये । स्वजनों के दुखों का निवारण करने वाले तथा प्रणतजनों का अभीष्ट सिद्ध करने वाले हे देव ! मेरी इस मनोव्यथा को शान्त करिये ।'

इति केशवतोषणरम्यविधिं
विनिगद्य पुनर्दयितामदितिम् ।
परितोषविशेषवतीमवदत्
सुतपाः स महर्षिवरोऽनुगतः ।।३३।।

इस प्रकार 'केशवतोषण' व्रत की रम्यविधि का उपदेश देकर, परितोष का सर्वस्व प्राप्त करने वाली प्रिया अदिति को उन महातपस्वी महर्षि काश्यप ने पुनः सान्त्वना प्रदान की और अनुगत (अनुकूल) होकर बोले—।

भज देवि ! पयोव्रतमार्तिहरं
नियमैः पुरुषोत्तमतोषकरम् ।

समवाप्स्यसि निश्चितमेव शुभे !
स्वसमीहितभव्यमुपायधृतम् ॥३४॥

हे देवि ! पुरुषोत्तम विष्णु को सन्तुष्ट करने वाले आर्तिहर इस 'पयोव्रत' का नियमों के साथ पालन करो। हे शुभे ! उपायों द्वारा प्राप्य अपने मनोऽभिलषित कल्याण को तुम निश्चित रूप से प्राप्त करोगी।

इदं व्रतं देवि ! विरञ्चिदिष्टं
सिद्धिप्रदञ्चेश्वरतर्पणाख्यम् ।
सर्वव्रतं सर्वमखाभिधानं
शुभं तपस्सारमभीष्टमूलम् ॥३५॥

हे देवि ! भगवान् ब्रह्मा द्वारा (स्वयं) उपदिष्ट 'ईश्वरतर्पण' नामक यह व्रत सिद्धिप्रद है। समस्त व्रत इसी में पर्यवसित हैं। इसे 'सर्वमख' भी कहा जाता है। यह पवित्र, तपश्चर्या का सारभूत तथा आकांक्षाओं (की पूर्ति) का मूल है।

अधोक्षजं तं हरिमव्ययं त्वं
भजस्व भक्त्या शरणं समेषाम् ।
पयोव्रतेनैष्यसि देवि ! सिद्धिं
सन्देहलेशोऽपि न चात्र कार्यः ॥३६॥

जो समस्त संसार के शरण्य हैं ऐसे अव्यय अधोक्षज भगवान् श्रीहरि की भक्तिपूर्वक सेवा करो। हे देवि ! पयोव्रत से तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। इस विषय में तुम्हें लेशमात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

इति प्रियां पुत्रपराजयार्तां
सम्मन्त्र्य वाग्भिर्जननीं मघोनः ।
स्वीकृत्य नैवेद्यमपि प्रकामं
निजाश्रमं देवपिता जगाम ॥३७॥

पुत्र की पराजय से व्यथित, इन्द्रजननी अपनी भार्या अदिति को इस प्रकार सदुपदेशों से सान्त्वना प्रदान कर तथा यथेष्ट नैवेद्य (भोज्य-समाग्री) भी प्राप्त कर देवपिता (कश्यप) अपने आश्रम चले गये।

प्रजापतौ स्वामिनि कश्यपेऽसौ
गतेऽदितिः पूतपयोव्रतं तत्।
सम्पादयामास यथोक्तरीत्या
शुचिव्रता फाल्गुनशुक्लपक्षे ॥३८॥

अपने स्वामी प्रजापति कश्यप के चले जाने पर, फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष में शुचिव्रता अदिति ने उस पवित्र पयोव्रत को यथोक्त रीति से सम्पन्न किया।

उच्चावचान् भोगविभोगलोभान्
असत्प्रवृत्तिञ्च विधूय यत्नैः।
अहिंस्रभावा परिपूतचित्ता
रराध सा तं शिपिविष्टविष्णुम् ॥३९॥

अहिंसक भावना तथा परिपूत मनोवृत्ति वाली उस देवी ने प्रयत्न-पूर्वक असत्प्रवृत्तियों को तिलाञ्जलि देकर तथा ऊँचे-नीचे भोगों, ऐश्वर्यों तथा लोभों को त्याग कर शिपिविष्ट भगवान् विष्णु की आराधना प्रारम्भ की।

सर्वेषु दीनान्धजनेषु कामं
सा भुक्तवत्सु प्रयता निशायाम्।
जग्राह किञ्चित्तु पयोऽवशिष्टं
नैवेद्यकल्पं तनुरक्षणाय ॥४०॥

समस्त दीन-हीन (याचकों) तथा अन्धजनों के भोजन कर लेने के बाद व्रतनिष्ठ अदिति रात्रिवेला में, भुक्तावशेष थोड़े से पयस् को नैवेद्य के रूप में, प्राण-रक्षा मात्र के लिए ग्रहण करती थी।

हिरण्यगर्भं हरिमादिदेवं
त्रयीमयं लोकसुसाक्षिभूतम् ।
प्रजाहितार्थाय जगत्पतिं सा
तं वासुदेवं स्तुतिभिस्तुतोष ।।४१।।

अपनी सन्ततियों की कल्याण-कामना से वह आदिदेव हिरण्यगर्भ, वेदत्रयमय, लोक के श्रेष्ठ साक्षी उन भगवान् श्रीहरि वासुदेव को स्तुतियों द्वारा रिझाती थी ।

युग्मकम्

मधूच्चये यत्नपरा विहाय
क्षुपान् समग्रान् मधुमक्षिकाऽसौ ।
अन्विष्यति प्रार्थितपुष्पमात्रं
यथा मधुप्लावितगर्भमूलम् ।।४२।।

मधु-संचय करने में प्रयत्नशील कोई मधुमक्खी जैसे समस्त वृक्षों को छोड़कर मधुरस से सराबोर अन्तरालवाले मनोऽभिलषित पुष्पमात्र को खोजती है ।

तथाऽदितिः सर्वमुपेक्ष्य भावं
सांसारिकं विष्णुपदावसक्ता ।
विष्णवन्तरा विष्णुमतिर्बभूव
विष्णुक्रिया विष्णुमयी निकामम् ।।४३।।

ठीक उसी प्रकार विष्णु-चरणों में लीन अदिति भी समस्त सांसारिक भावों को उपेक्षित कर विष्णुमय हृदय वाली, विष्णुमय बुद्धि वाली, विष्णुमय क्रियाओं वाली एकदम विष्णुमयी ही हो उठी ।

अथ हरिरखिलात्मा देवमात्रार्चिताङ्घ्रिः
कठिननियमसिद्धिप्रेरितोऽसौ व्रतान्ते ।

अदितिनयनयुग्मं क्लेशतप्तं ह्यकस्मात्
स्ववदनविधुदीप्त्या भावयामास मुग्धः ।।४४।।

इसके अनन्तर, देवमाता अदिति द्वारा समर्चित चरण, अखिलात्मा प्रसन्नचित्त भगवान् विष्णु ने (देवी अदिति की) कठिन तपस्सिद्धियों के वशीभूत होकर, व्रत की समाप्ति होते ही, अपने मुखचन्द्र की प्रभा से, क्लेशसन्तप्त अदिति के नेत्रयुगल को सहसा अनुरंजित कर दिया ।

नयनजलपरीतां प्रीतिमोदश्लथाङ्गीं
पुलकभरविपन्नां रुद्धकण्ठीं सवित्रीम् ।
सपदि सदयमूचे पद्मनाभोऽतितृप्तः
सजलजलदधीरध्वानधुर्यस्सहेलम् ।।४५।।

नेत्राश्रुओं से भीगी, प्रेम एवं आह्लाद से शिथिल अंगों वाली, पुलकन के भार से व्यथित, अवरुद्ध कण्ठ वाली जन्मदात्री देवी अदिति से अतिशय सन्तृप्त भगवान् पद्मनाभ सजलजलधर-सरीखी धीरगम्भीर वाणी में लीलापूर्वक सदयभाव से तत्काल बोले ।

हृदयनिहितभावो देवमातर्भवत्याः
स्वसुतविजयनिष्ठो ज्ञायते तं करिष्ये ।
तव विपदपहारं देवि ! मा गा विषादं
भवति मम समर्चा नैव मोघा कदापि ।।४६।।

हे देवजननि ! अपने पुत्र (देवराज इन्द्र) की विजय से जुड़े तुम्हारे मनोगत भाव को मैं जानता हूँ इसलिये हे देवि ! तुम्हारी विपत्ति का निवारण मैं करूँगा । विषाद को मत प्राप्त होओ । मेरी समर्चना कभी निष्फल नहीं होती है ।

पुत्रीभूय हरामि शोकमखिलं सोऽहं प्रतिज्ञादरः
तस्मात्त्वं ह्युपधाव कश्यपवरं पुत्रार्थिनी वल्लभम् ।

आख्येयं न कथञ्चनापि नियतं कस्मैचिदेतद्रहो-
वृत्तं देवि ! यदावयोस्सुघटितं स्वस्त्यस्तु ते याम्यहम् ।।४७।।

अपनी प्रतिज्ञा पर अटल मैं तुम्हारा पुत्र बन कर (तुम्हारे) समस्त शोकों को दूर कर दूँगा। इसलिये तुम पुत्रप्राप्ति की कामना से अपने स्वामी महर्षि कश्यप की सेवा में उपस्थित होओ। हे देवि ! हम दोनों के बीच, एकान्त में जो कुछ भी घटित हुआ है यह सब किसी को भी ज्ञात न हो सके। अब मैं चला। तुम्हारा कल्याण हो।

शङ्खाम्भोजगदासुदर्शनधरे नारायणे वाचिकं
दत्त्वैवं नु तिरोहितेऽदितिरसौ सम्मोदभावाकुला।
मन्वानाऽत्मतपः पयोव्रतपदं सार्थं कृतार्थं परं
प्रीत्या वल्लभपादपद्मयुगलं भेजे तनूजेच्छया ।।४८।।

शंख, चक्र, गदा एवं पद्म को धारण करने वाले भगवान् के, ऐसा कह कर, चले जाने के बाद, सम्मोद के भार से आकुल देवमाता अदिति 'पयोव्रत' नामक अपनी तपस्या को सार्थक अनुभव करती हुई, पुत्र की कामना से प्राणवल्लभ महर्षि कश्यप के चरणकमलों की सेवा में, प्रीतिपूर्वक लीन हो गई।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याभिराजी सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गोर्वाणवाण्याऽनघम् ।।४९।।

कवित्वशिखरभूत, मौक्तिक-शरीर जिस पुत्र को वन्दनीया अभिराजी देवी ने सीपी-सरीखी अपनी कोख में, दुर्गाप्रसाद द्वारा जन्म दिया, देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के बीच मध्यमणि के समान वही राजेन्द्रमिश्र स्वहृदय-परितोषार्थ भगवान् त्रिविक्रम का यशोगान, देववाणी द्वारा सम्पन्न कर रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेववेदवचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।

श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूत फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५०।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसकी पत्रावली है, विल्हण की उक्तियाँ जिसका पुष्पप्रकर हैं और महामहिम पण्डितराज की काव्यगरिमा जिसका एकमात्र पावन फल है—-अभिराजराजेन्द्र-रूपी वह काव्यद्रुम चिरञ्जीवी हो ।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्येऽ
दितिपयोव्रताभिधः पञ्चमः सर्गः

• •

# षष्ठः सर्गः

प्रियामागतां वीक्ष्य चन्द्रावदातां
स्फुरत्कान्तकान्ति व्रतालोकिताङ्गीम् ।
ननन्दादितिं तन्मनोभावविज्ञो
विभुः कश्यपो रागबद्धप्रवृत्तिः ।।१।।

चन्द्रमा के समान धवल, देदीप्यमान मनोरम कान्तिवाली तथा पयोव्रत से प्रकाशित अंगों वाली प्रिया अदिति को सेवारत देख, प्रिया के मनोभाव को जानने वाले, प्रणयावसक्त भावना वाले सर्वसमर्थ महर्षि कश्यप ने, उसका अभिनन्दन किया ।

स जज्ञेऽखिलं चारुवृत्तं समाधौ
महाविष्णुमात्मप्रविष्टं ददर्श ।
अतश्चैव साध्वीं नतां धर्मभार्यां
दृशा सौम्ययाऽऽलोक्य पप्रच्छ सौख्यम् ।।२।।

उन्होंने समाधि की दशा में ही संपूर्ण मंगलमयवृत्त को जान लिया तथा महाविष्णु को अपने व्यक्तित्व में प्रविष्ट देख लिया । अतएव साध्वी तथा विनम्र धर्मपत्नी को सौम्य दृष्टि से देखकर उसका कुशल-क्षेम पूछा ।

समालोक्य कादम्बिनीं सौम्यरूपां
मयूरो यथोन्मादभावं प्रयाति ।
तथैवादितिं दर्शितप्रीतिबन्धां
व्रती कश्यपोऽपि प्रसह्योच्चचाल ।।३।।

सुभग-रूपा घनघटा को निहार कर जैसे मयूर उन्मादभाव को प्राप्त हो उठता है उसी प्रकार प्रीतिबन्धन प्रदर्शित करने वाली प्रिया अदिति को देख कर तपोव्रती होते हुए भी कश्यप, दुर्निवार गति से चञ्चल हो उठे ।

स रेमे तपस्सिद्धकामोपभोगै-
रदित्या सहोत्तुङ्गशृङ्गेऽचलानाम्।
विमाने स्वसंकल्पमात्रप्रसूते
चिरं यावदीशो हृषीकोच्चयानाम् ॥४॥

इन्द्रिय-समूह के नियन्ता महर्षि कश्यप ने (तब) अपने संकल्प मात्र से उत्पादित विमान में बैठकर पर्वतों के उत्तुंग शृङ्गों पर, प्रिया अदिति के साथ तपस्सिद्ध कामोपभोगों के साथ, चिरकाल तक रमण किया।

चिरात्सम्भृतं ब्रह्मचर्यानुरोधै-
स्समाधत्त तेजस्स दिव्यं प्रियायाम्।
सुखाय त्रिलोक्याः प्रजारक्षणायै
ऋतस्थापनायै मघोनश्च तुष्ट्यं ॥५॥

(इसके अनन्तर) ब्रह्मचर्यानुपालन द्वारा चिरकाल से ही संरक्षित अपने दिव्य तेजस् (वीर्य) को, लोकत्रय के सुख, प्रजाजनों के रक्षण, ऋत की संस्थापना तथा देवराज इन्द्र की परितुष्टि के निमित्त, देवी अदिति में आहित किया।

अथामर्त्यमाता शमीवाग्निगर्भा
सुखं कश्यपाधिष्ठितं दिव्यगर्भम्।
दधार प्रभाभासिताङ्गी मनोज्ञा
महाविष्णुकल्पं लसद्भूरिभाग्यम् ॥६॥

इसके अनन्तर प्रभा से भासित अंगों वाली मनोरमा अदिति ने, अग्निगर्भा शमी के समान, कश्यप द्वारा अधिष्ठित महाविष्णु-सरीखे दिव्य गर्भ को प्रभूत सौभाग्य के साथ सुखपूर्वक धारण किया।

गतेष्वेव मासेषु सा पञ्चषेषु
स्फुटं गर्भभारालसा मन्दवेगा।

विपाकोन्मुखी सोमवल्लीव रम्या
पिशङ्गप्रभान्तर्बला चापि जाता ।।७।।

पाँच ही छ महीने बीतने के बाद स्पष्ट रूप से अदिति गर्भ के भार से अलसित, मन्द गति वाली, परिणामोन्मुखी सोमवल्ली के समान रमणीय एवं पिशंग (पीत) वर्ण वाली तथा आत्मबल से सम्पन्न हो उठी ।

युग्मकम्

मुहूर्तेऽभिजिन्नाम्नि मध्यन्दिनेऽसौ
स्फुरद्द्वादशीये तिथौ पुण्यकाले ।
सिते भाद्रमासे सुनक्षत्रतारा-
घटीदण्डचक्रग्रहे सानुकूले ।।८।।

भाद्रपद महीने के शुक्ल पक्ष में, देदीप्यमान द्वादशी तिथि के पुण्यकाल में, अभिजित नामक मुहूर्त में, मध्याह्‌न वेला में, नक्षत्र-ताराघटी-दण्डचक्र तथा ग्रहों के अनुकूल रहने पर—।

असूत प्रभुं देवमाताऽदितिस्तं
शिशुं दिव्यरूपं हरिं पुष्कराक्षम् ।
स्वमायावशीभूतमाद्यन्तहीनं
जगत्साक्षिमात्रं परं निर्विकारम् ।।९।।

देवमाता अदिति ने, अपनी ही माया के वशीभूत, जन्म एवं मृत्यु से परे, जगत के साक्षीमात्र, गुणत्रय-विहीन, दिव्यरूपधारी कमलनयन उन विष्णु को शिशु के रूप में जन्म दिया ।

हरेर्जन्म विज्ञाय रम्भाघृताचु-
र्वशीमेनकामिश्रकेश्योऽम्बरस्थाः ।
अदित्याश्रमे मोदसन्दोहमग्नाः
कलं नर्तनं सन्दधुश्चित्रमुद्राः ।।१०।।

हे अदिति-वंश के सुखाभ्युदय-हेतु! देव-संकटों का सदैव प्रशमन करने वाले! देवगृहांगणों के मंगलमय प्रवेशद्वार तथा सुरनगरी अमरावती की रक्षा में बद्धपरिकर (गुरुवर्य)

तपति चण्डमरीचिविभावसौ
भवति देवपुरीं सघनं तमः।
बलिबलोच्छलितं निगिरत्यलं
सपदि वारय हाऽरय आगताः ॥११॥

आप सरीखे प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के तपते रहने पर भी दैत्यराज बलि की सेनाओं द्वारा उत्पन्न किया गया (भयरूपी) सघन अन्धकार सुरपुरी अमरावती को निगल रहा है। हे प्रभो! शत्रु आ चढ़े हैं। शीघ्र (हमारी) रक्षा करें!!

हतबलो नु मया समराङ्गणे
बलिरसौ दययैव न घातितः।
सपदि केन बलेन स गर्वितः
कथय नाथ! रणं पुनरागतः ??१२॥

मेरे द्वारा (पहले) समरभूमि में नष्ट सैन्य वाला जो बलि कृपावश ही मारा नहीं गया, क्षण भर में ही वह किस बल से गर्वित हो उठा है और रणभूमि में पुनः उपस्थित है? हे प्रभो! यह तो बताइये?

रणसमुद्यम आदिमवैरिणो
ननु विलक्षण एव हि लक्ष्यते।
दशदिशो विदहन्निव लोचनै-
र्बलिरुपैति युगान्तकपावकः ॥१३॥

मेरे पूर्वकालीन शत्रु का यह रणोद्यम सचमुच ही मुझे विलक्षण प्रतीत हो रहा है। युगान्तकारी अग्नि के समान नेत्रों (के तेज) से दसों दिशाओं को भस्म करता हुआ सा बलि बढ़ा चला आ रहा है।

क्व नु गतं मम साहसमाहवे
कथमुपैति मनो न रणोद्यमम् ।
क्व नु गता मम शत्रुविघातिनी
गुरुकृपाश्रयिणी प्रभविष्णुता ??१४।।

मेरा युद्ध-साहस आखिर कहाँ चला गया ? मेरा मन युद्धाभियान से कतरा क्यों रहा है ? शत्रुओं को विनष्ट कर देने वाली, गुरु-कृपा की आश्रयिणी मेरी प्रभविष्णुता भला कहाँ लुप्त हो गई ?

भयमुदेति कथं शिथिलायते
समरधीः ननु कातरताङ्गता ।
न खलु मे न च नाथ ! सहायिनां
भवति दारुणसङ्गरसाहसम् ।।१५।।

क्यों भय (सा) लग रहा है ? कातरता को प्राप्त मेरी समरलिप्सा क्यों शिथिल सी हो रही है ? हे स्वामिन् ! न तो मेरा और न ही मेरे सहचरों का भयावह समर-साहस जागृत हो पा रहा है ।

नमुचिशत्रुमथेत्यभिशंसिनं
त्रिभुवनेश्वरमाह बृहस्पतिः ।
अलमलं व्यथया सुरनायक !
प्रभवतीह नु कालविपर्ययः ।।१६।।

इस प्रकार, अपने हृदय के भय को अभिव्यक्त करने वाले नमुचिवैरी त्रिभुवनेश्वर इन्द्र से (देवगुरु) बृहस्पति बोले—हे सुरनायक ! व्यथा मत करो । काल का विपर्यय तो जीवन में आता ही हैं ।

बलिरयं गुरुशक्तिसमन्वितो
महितविश्वजिदध्वरगर्वितः ।

सुरपते ! विजिगीषुरिहागतो
न किल वारयितुं स हि शक्यते ॥१७॥

हे सुरपते ! यह दैत्यराज बलि (सम्प्रति) अपने गुरु शुक्र की तपशक्ति से समन्वित तथा लोकविख्यात विश्वजित् यज्ञ के मद से गर्वित होकर आपको जीतने की आकांक्षावश अमरावती में आ धमका है। इस समय उसे रोक पाना कठिन है।

न च बलैर्न पराक्रमशक्तिभि-
र्न खलु सैन्यचरैर्बहलैरपि ।
क्षमत इन्द्र ! तथा किल शासितुं
नृपतिरात्मगुरोस्तपसा यथा ॥१८॥

हे इन्द्र ! नृपति न तो बलों से, न पराक्रमजन्य शक्तियों से और न ही असंख्य सैनिकों से वैसा शासन कर पाने में समर्थ होता है जैसा कि अपने कुलगुरु की तपश्चर्या से।

व्रततपोमखसञ्चितमूर्जितं
सुकृतमात्मकृतं भवता प्रभो !
निभृतमेव समापितमुत्सवै-
र्निजहृषीकचयेच्छितपूरणैः ॥१९॥

हे राजन् ! आपने तो व्रत, तपश्चर्या एवं अश्वमेध-यज्ञ से संचित तथा ऊर्जित स्वयंकृत पुण्यराशि, चुपचाप अपने इन्द्रिय-समूह की इच्छाओं की पूर्ति से तथा रागरंग से समाप्त कर डाली।

अशनपानरतोत्सवगायन-
प्रथिततण्डवलास्यविलोकनैः ।
क्षपयतां समयं ह्यमृतान्धसां
क्व खलु सम्प्रति सङ्गरसाहसम् ??२०॥

भोजन, सोमपान, सुरतोत्सव, गायन तथा प्रख्यात ताण्डवलास्य के अवलोकन मात्र से समय बिताने वाले अमृतभोजी देवताओं में अब इस समय भला युद्ध करने का साहस कहाँ ?

सहचरास्तव वीर ! सुराङ्गना-
चटुलनेत्रकटाक्षहतिक्षताः ।
कथमपि प्रतिहन्तुमरेर्भटान्
तुमुलसङ्गरसद्मनि न क्षमाः ॥२१॥

हे वीर ! तुम्हारे संगी-साथी (योद्धा) तो देवांगनाओं के नेत्रों की चंचल चितवनों की मार से क्षत-विक्षत हैं । वे घनघोर रणभूमि में शत्रु सैनिकों को मार पाने में कथमपि समर्थ नहीं हैं ।

स्मरसुखातिशयो बलविक्रमौ
श्लथयति प्रचुरं बलवानलम् ।
कटुविषोऽपि फणी सलिलाशये
वसतिमेत्य भवेत्किल डुण्डुभः ॥२२॥

अतिशय बलवान् कामोपभोगजन्य सुख का आधिक्य बल और पराक्रम—दोनों को भरपूर शिथिल बना देता है । तीव्र विष वाला नाग भी सरोवर (के जल) में रहते-रहते डुण्डुभ (निर्विष) बन जाता है ।

मम तपोऽपि न शुक्रतपोऽतिगं
बलिसमं न बलं तव मानद !
विधिनियोगमतश्शिरसाऽऽश्रयन्
रणमुपेक्ष्य निवारय सङ्कटम् ॥२३॥

हे मानद ! इस समय न तो मेरा तपोबल ही शुक्राचार्य के तप से समधिक है और न तुम्हारा ही बल बलि के बल के समकक्ष है । इसलिये ईश्वरेच्छा को ही सिरमाथे लगाते हुये, युद्ध से विरत होकर, संकट का निवारण करो ।

त्यज पराजयवर्धितदुर्यशो
विगणनां न च याह्यवमानजाम् ।
त्रिदशनाथ ! न चिन्तय सम्पदं
विपदमेव विलोकय सम्मुखम् ।।२४।।

पराजय से उत्पन्न दुष्कीर्ति को छोड़ो तथा अपमानजनक स्थिति को भी भूल जाओ । हे त्रिदशनाथ ! समृद्धियों की भी चिन्ता मत करो । बस, सम्मुख आ पड़ी विपत्ति को ही देखो ।

सुरगणाऽनुगतोऽप्यमरावतीं
निभृतमेव विहाय वसन् क्वचित् ।
क्षपय कालमिमं प्रतिकूलता-
मुपगतं त्वदमङ्गलकारकम् ।।२५।।

देवमण्डली से अनुगत तुम, चुपचाप अमरावती छोड़कर कहीं और (गूढ़ गिरिकन्दराओं में) निवास करते हुये, अमंगलकारी इस प्रतिकूल समयचक्र को काट लो ।

विनतशिष्यकृते भृगुजा द्विजाः
सुमखविश्वजिदर्जिततैजसम् ।
समभरन् यदशेषविशेषदं
बलिरयं ह्यमुनैव विवर्धते ।।२६।।

भृगुकुल में उत्पन्न ब्राह्मणों ने अपने विनम्र शिष्य (बलि) के लिये समस्त अभ्युदयों को प्रदान करने वाले, जिस यज्ञोत्तम विश्वजित् से अर्जित तेजस् का संचय किया है—यह दैत्यराज बलि उसी से वृद्धि प्राप्त कर रहा है ।

न च भवान्न भवद्विधकोऽपरो
दनुजराजमिमं तपसोर्जितम् ।

शमयितुं क्षमतेऽदितिनन्दन !
सपदि सम्प्रति शार्ङ्गधरादृते ॥२७॥

हे अदितिनन्दन ! इस समय एक शार्ङ्गधर भगवान् विष्णु को छोड़कर, न तो आप और न ही आप जैसा कोई अन्य देव तपोबल से गर्वित इस दानवराज बलि को शीघ्रतापूर्वक शान्त (पराजित) कर सकता है ।

द्विजतपोबलवर्धितसाहसो
बलिरयं प्रगुणीकृतविक्रमः ।
ननु विमत्य भृगून् नृपतिश्रियं
विभवदामपहारयति ध्रुवम् ॥२८॥

बढ़े हुये शौर्य-पराक्रम वाला तथा ब्राह्मणों के तपोबल से वर्धित साहस वाला यह बलि बस भृगुवंशी ब्राह्मणों का अपमान करके ही, समृद्धिदायिनी अपनी साम्राज्य-लक्ष्मी का निश्चित रूप से विनाश करायेगा ।

निखिलवृत्तमिदं घटते यथा
नियतिपाशततन्नु शनैः शनैः ।
तदखिलं सुरनाथ ! विलोकयाऽ
च्युतकृपामथ मौनमुपागतः ॥२९॥

यह सारा संविधानक (घटनाचक्र) जिस प्रकार घटित होगा—शनैः शनैः नियति के बन्धन से नियंत्रित होकर—हे सुरनाथ ! मौन धारण कर वह सब, और भगवान् अच्युत की कृपा को भी देखते रहिये !

बलपराक्रमसाहससञ्चयं
द्रुतमुपेहि पुनस्तपसा प्रभो !
गिरिदरीशिखरादिषु सानुगो
वसतिमेत्य विभावय मङ्गलम् ॥३०॥

हे राजन् ! इस बीच अपने सहचरों के साथ पर्वतकन्दराओं तथा उनके शिखरों पर निवास करते हुए मंगल की आशंसा (प्रतीक्षा) कीजिये तथा तपश्चर्या द्वारा द्रुतगति से (आप) भी पुनः वल, पराक्रम तथा साहस का संचय कीजिये ।

अहमपि स्वतपोबलसञ्चयै-
र्दिविषदां पुनरभ्युदयं शुभम् ।
बहलयत्नपरो भवितास्मि सं-
घयितुं त्वरितं परितापहम् ।।३१।।

मैं भी अपने तपोवल के संचय द्वारा देवताओं के सन्तापविनाशक मंगलमय पुनरभ्युदय को संघटित करने के लिये प्रभूत यत्नसिद्धि में केन्द्रित हो रहा हूँ ।

इति बृहस्पतिमंत्रनिबोधिता
अवसरं प्रतिकूलमवेत्य च ।
सुरगणाः सकला अमरावतीं
निभृतमेव शनैः परितत्यजुः ।।३२।।

इस प्रकार (देवगुरु) वृहस्पति की मंत्रणा से प्रेरित तथा अवसर को (अपने) प्रतिकूल जानने वाले समस्त सुरगणों ने चुपचाप, धीरे-धीरे अमरावतीपुरी को छोड़ दिया ।

विविधरूपधरा अमृतान्धसः
क्व नु कथन्नु कदा नु गता इति ।
बलिरसौ न शशाक समीक्षितुं
निशितगूढचरैर्विदिताशयः ।।३३।।

विविध रूप धारण करने में कुशल अमृताशन देवगण कहाँ, कैसे और कब चले गये ? तेज गुप्तचरों द्वारा समाचारों का संचय करने वाला वह दानवराज बलि इसको भाँप तक नहीं सका ।

स खलु देवपुरीं विभवाश्रयां
सुरगणै रहिताञ्च निरत्ययाम् ।
विजयघोषपुरस्सरमीश्वरो
ननु विवेश सुखं विजयोन्मदः ।।३४।।

विजयोन्माद से ग्रस्त दैत्यराज ने तत्र विजय का शंखनाद गुंजाते हुए, विभवों से ओतप्रोत, संकटों से मुक्त तथा देवताओं से रहित अमरावती में सुखपूर्वक प्रवेश किया ।

त्रिभुवनाधिपतिस्स बलिर्बली
निखिलविश्वजयार्जितसद्यशाः ।
भृगुकुलोदधिनं गुरुतल्लजं
ह्युशनसं परिपूज्य सुखं दधे ।।३५।।

सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण श्रेष्ठ यश अर्जित करने वाले त्रिभुवनाधिपति उस पराक्रमी बलि ने भृगुवंश का मान बढ़ाने वाले अपने श्रेष्ठ गुरु उशना (शुक्राचार्य) की भलीभाँति पूजा करके सुख प्राप्त किया ।

त्रिभुवनं किल शासदविघ्नितं
द्विजसुरासुरकिन्नरलम्भिताम् ।
स बुभुजे नृपतिश्रियमूर्जितां
सुखसमृद्धिमयीं हतकण्टकाम् ।।३६।।

निर्विघ्न रूप से त्रैलोक्य का शासन करते हुए दैत्यराज बलि ने ब्राह्मणों, देवों, दानवों, तथा किन्नरादिकों द्वारा सौंपी गई, सुख समृद्धिमयी, शत्रु-रहित देदीप्यमान साम्राज्यलक्ष्मी का भोग करना प्रारंभ किया ।

प्रणतनम्रधियं भृगुवंशजा
द्विजवरा हयमेधशतेन ते ।

गुरुकृपाश्रयिणं तमयाजयन्
नृपविरोचनजं बलिवत्सलाः ।।३७।।

बलि के प्रति वत्सल, भृगुवंशी कुलपुरोहितों ने भी प्रणत एवं विनम्र बुद्धि वाले, गुरुकृपा का आश्रय लेने वाले राजा बलि के हाथों सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराये।

त्रिभुवनं दनुजाधिपतौ बलौ
सुकृतधर्ममहोदयपालके ।
अवति पूर्णसुखेऽखिलरोदसी
ननु बभूवतुरात्मनियंत्रिते ।।३८।।

सुकृत, धर्म एवं महान् अभ्युदयों के पालक पूर्णसुखी दनुजाधिपति बलि द्वारा त्रिभुवन का प्रशासन करने पर सम्पूर्ण आकाश एवं पृथ्वी अपने आप नियंत्रित हो उठे।

ववुरमन्दमुशीरसुशीतलाः
सुरभिता मरुतश्शमितान्तराः ।
घनघनाः सघनाम्बुसुवर्षणं
विदधुरेव यथावसरं भुवि ।।३९।।

प्रशान्त हृदय वाली, सुरभित तथा उशीर (खस) के समान अत्यन्त शीतल हवाएँ अमन्द गति से बहने लगीं। सघन घनमालाएँ भी यथावसर पृथ्वी पर मूसलाधार जल की सुन्दर वर्षा करने लगीं।

पितृपितामहपुण्यचयोर्जितो
दनुजवंशभवोऽपि नृपो बलिः ।
ऋतपथं न जहौ न च साधुतां
प्रकृतिभव्यपरं स्वकुलव्रतम् ।।४०।।

शुक्रेणासौ भार्गवेणानुशिष्टो
रेजे स्वर्गे दानवेन्द्रोऽवदातः ।।४७।।

जिस प्रकार शरत्कालीन पूर्णचन्द्र नीले आकाश में शुक्र से समन्वित होकर सुषमा बिखेरता है उसी प्रकार यशोऽवदात दानवेन्द्र बलि भी भार्गव शुक्राचार्य के अनुशासन में स्थित रहकर, स्वर्गलोक में देदीप्यमान हो उठा।

त्रैलोक्येशं वल्लभं तं सिषेवे
तुल्यप्रेम्णाऽर्धाङ्गिनीनां तुरीयम् ।
द्यौर्नव्योढा मेदिनी राजलक्ष्मीः
पाणिग्राह्या चारुविन्ध्यावलिस्सा ।।४८।।

(स्वर्गपुरी) त्रिलोकी के प्रशासक उस वल्लभ की सेवा, चार अर्धाङ्गिनियों ने, समान प्रेम के साथ की—नई-नई व्याही गई द्यौः, पृथ्वी, साम्राज्यलक्ष्मी तथा पाणि-ग्रहण की गई सुन्दरी विन्ध्यावलि !

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ।।४९।।

कवित्वशिखरभूत, श्रेष्ठ मोती के समान व्यक्तित्व वाले जिस पुत्र को, वन्दनीया देवी अभिराजी ने अपनी सीपी जैसी कोख से पैदा किया—पण्डित दुर्गा प्रसाद के तेज से—श्री देवेन्द्र एवं सुरेन्द्र के मध्य मणि के समान वही राजेन्द्र मिश्र अपने हार्दिक परितोष के लिए भगवान् त्रिविक्रम (वामन) का यशोगान देववाणी संस्कृत द्वारा कर रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।

श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५०।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविताएँ जिसकी पत्रावलियाँ हैं, विल्हण की उक्तियाँ पुष्पसमूह हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—वह नैसर्गिक अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यद्रुम चिरजीवी हो ।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
बलिप्रतिष्ठाभिधश्चतुर्थः सर्गः

• •

# पञ्चमः सर्गः

अवलोक्य सुतं त्रिदशाधिपतिं
बलिना हृतवैभवमार्तियुतम् ।
अदितिर्जननी परितापचयं
समवाप शशाप च भूरि विधिम् ।।१।।

त्रिदशाधिपति अपने पुत्र इन्द्र को विषादयुक्त तथा दैत्यराज बलि द्वारा अपहृत ऐश्वर्य वाला देखकर माता अदिति सन्तप्त हो उठीं तथा विधाता (भाग्य) को बारम्बार कोसने लगीं ।

तनयाऽभ्युदयामृतवारिनिधि-
प्रविहाररता सुखिनी शफरी ।
च्युतनीरसुखा मरणैकगतिं
गतिमाप ममत्वभरैर्ग्लपिता ।।२।।

पुत्राभ्युदय रूपी अमृतोदधि में विहार करने वाली सुख से भरपूर मछली जैसी (देवमाता) अदिति अब जल में रहने के सौख्य से वंचित, ममता के कारण ग्लान एकमात्र मृत्यु रूपी गति वाली हो उठीं ।

न बुभोज सुखं निपपौ न सुखं
क्षणमात्रमपि स्वपिति स्म न वा ।
न जहास मुदा हृदि सन्दधती
ह्यदितिर्विपदं नयनाश्रुरता ।।३।।

न वह सुखपूर्वक खा पाती थी, न पी पाती थी और न ही क्षणभर के लिये सोती थी । हृदय में विपत्ति को धारण करती हुई अदिति अश्रुभार से बोझिल हुई सी प्रसन्नता से हंस भी नहीं पाती थी ।

अथ गच्छति दुःखमये समये
समपश्यदमुं दयितां सुतपाः ।
खगनागसुराऽसुरकल्पयिता
भगवान् स्वयमेव स कश्यपकः ।।४।।

इस प्रकार, दुःख से भरा समय बीत ही रहा था कि भार्या को महातपस्वी, पक्षियों, नागों, सुरों तथा असुरों के स्रष्टा (पिता) भगवान् कश्यप ने एक दिन स्वयमेव देखा ।

अवलोक्य दृगश्रुपरीतमुखीं
सुमुखीं दयितां द्युसदां जननीम् ।
विदितोऽपि विभुर्निजगाद गिरा
करुणापरया विनतां वनिताम् ।।५।।

लोचनाश्रुओं से भीगे मुखमण्डल वाली, विनम्र एवं सुमुखी प्रिया देवमाता अदिति से, सब कुछ जानते हुए भी, महामहिम कश्यप ने करुणा से ओतप्रोत वाणी में कहा—।

अयि देवि ! निरुत्सवमद्य कथं
महिताश्रमलोकमिमं तवकम् ?
कलयामि दृशा न कदापि पुरा
यदधीतमथो न च दृष्टमपि ।।६।।

हे देवि ! तुम्हारे इस महनीय आश्रम-परिसर को आज निरुत्सव (उदास) सा क्यों देख रहा हूँ ? पहले कभी तो न ऐसा अनुभव किया था, नहीं देखा था !!

अपि ते कुशलं गृहमेधिनि हे !
फलमूलचयं विजनं तनुते ?
अपि भद्रमिहास्ति तपोधनिनाम्
ऋतसत्यगवेषणयत्नवताम् ??७।।

हे गृहमेधिनि ! तुम्हारा कुशल तो है न ? तुम्हारा आश्रम फलों एवं कन्दमूलों को उत्पन्न तो कर रहा है न ? यहाँ रहने वाले तपस्वियों का, जो ऋत एवं सत्य की गवेषणा में लीन हैं, कुशल-मंगल तो है न !

गृहकार्यनिलीनमना भवती
प्रघुणं न गृहागतमाद्रियत ?
अथवा हविषा न मखज्वलनं
हुतवत्यपि देवि ! यथावसरम् ??८।।

हे देवि ! गृहकार्य में लीन मनोवृत्ति वाली तुमने यथावसर घर आये किसी अतिथि का निरादर किया ? अथवा हविष्यान्नों द्वारा यज्ञाग्नि को तृप्त करने में प्रमाद किया ? (जो उद्विग्न हो) ।

कथमद्य न ते वदनं रुचिरं
दिवसोदयवारिजकान्तिधरम् ?
जलदागमवर्षणगूढगतिं
नयने च कथन्तव देवि ! गते ??९।।

आज तुम्हारा मनोरम मुखमण्डल प्रभातकालीन कमलपुष्प की कान्ति को क्यों नहीं धारण कर रहा है ? हे देवि ! तुम्हारे नेत्रयुगल पावस की वर्षा जैसी रहस्यमय स्थिति को क्यों प्राप्त हो उठे हैं ?

अयि मानिनि ! किन्तव दुःखविप-
च्चयकारणमत्र निवेदय मे।
अहमस्मि पतिस्तव बन्धुरपि
प्रभवामि च ते विपदां शमने ।।१०।।

हे मानिनि ! इस समय तुम्हारे दुःख एवं विपत्ति-चक्र का कारण क्या है ? उसे (मुझे) बताओ तो ? मैं तुम्हारा पति हूँ, तुम्हारा सहचर हूँ और तुम्हारी विपत्तियों के प्रशमन में समर्थ हूँ ।

भगवान् श्रीहरि का आविर्भाव जानकर अदिति के आश्रम में उपस्थित रम्भा घृताची, उर्वशी, मेनका तथा मिश्रकेशी आदि अप्सराओं ने, प्रसन्नता की हिलोर में मग्न होकर, चित्रविचित्र नृत्यमुद्राओं के साथ आकाश में मनोहर नृत्य प्रस्तुत किया।

जगुस्साधु गन्धर्वमुख्याः प्रसन्ना-
स्ततस्तुम्बुरुर्वीणयामास तन्त्रीम्।
स्तवैस्तुष्टुवुर्यक्षरक्षोभुजंगा-
स्तथा सिद्धविद्याधराद्यास्समेत्य ।।११।।

उसके अनन्तर प्रसन्नमन प्रमुख गन्धर्वों (हाहा-हूहू) ने यथोचित गायन किया तथा तुम्बुरु ने वीणा-वादन प्रस्तुत किया। यक्ष, राक्षस, नाग तथा सिद्धों-विद्याधरादिकों ने भी एकत्र होकर स्तुतियों से (भगवान् हरि को) सन्तुष्ट किया।

पुमांसं परं देवदेवं स्वकुक्षौ
हरिं प्रेक्ष्य बालप्रभं देवमाता।
परं विस्मिता मोदसम्भारमग्ना
स्वमातृत्वसौभाग्यकाष्ठामवाप ।।१२।।

परमपुरुष, देवाधिदेव बालरूपधारी श्रीहरि को अपनी कोख में जनमा देख देवमाता अदिति परम विस्मित होकर आमोदभार से भर उठीं तथा अपने मातृत्व-सौभाग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया।

अथागत्य तारापथेऽसौ विरञ्चि-
र्भृशं नन्दयन् कश्यपं भूरिभाग्यम्।
महार्घाञ्च देवीं सवित्रीं स्ववाण्या
स्खलन्त्या हरिं साधु तुष्टाव नम्रः ।।१३।।

इसके अनन्तर भगवान् ब्रह्मा आकाश में प्रकट हुए तथा उन्होंने प्रभूत सौभाग्य वाले महर्षि कश्यप एवं जन्मदात्री महिमामयी देवी अदिति का अभिनन्दन कर अटपटाती वाणी द्वारा विनम्र भाव से श्रीहरि की स्तुति की।

नमस्ते त्रिनाभाय देवाय तुभ्यं
त्रयीशाय ब्रह्मण्यदेवाय तुभ्यम् ।
नमश्चादिमध्यान्तहीनाय तुभ्यं
नमस्स्वाधिकारप्रवृद्धाय तुभ्यम् ।।१४।।

अपने ही अधिकार (प्रभाव) से बढ़े हुए, आदि मध्य तथा अन्त से परे, वेंदत्रयी के स्वामी, ब्रह्मण्यदेव तथा त्रिनाभ (स्वर्ग, पृथ्वी एवं पाताल में व्याप्त) आपको मेरा प्रणाम अर्पित है ।

नमो वेदगर्भाय यज्ञाय तुभ्यं
समक्षाय तद्वत् परोक्षाय तुभ्यम् ।
नमो भूतभाविप्रवृत्ताय तुभ्यं
नमोऽज्ञानविज्ञानरूपाय तुभ्यम् ।।१५।।

हे प्रभो ! आप वेदगर्भ हैं, आप यज्ञस्वरूप हैं, आप हीं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष हैं । भूत एवं भविष्य में प्रवृत्त आप हीं हैं । अज्ञान तथा विज्ञान—उभयरूप भी आप ही हैं । आपको मेरा प्रणाम है ।

निमित्ताय सृष्टेर्नमस्ते परेश !
ह्युपादानभूताय तुभ्यं नमो मे ।
स्वमायावशीभूतचिद्विग्रहाय
गुणातीतरूपाय तुभ्यं नमोऽस्तु ।।१६।।

हे परेश ! सृष्टि के निमित्तकारणभूत आप हैं । सृष्टि के उपादान-कारण भी आप ही हैं । अपनी माया के वशीभूत होकर हीं आपने यह (मानव) चिद्विग्रह धारण किया है । हे प्रभो ! आप गुणातीत स्वरूप वाले हैं । आपको प्रणाम है ।

नियन्ता त्रिलोक्याः स्वयं चिन्मयो यः
परब्रह्मनामाऽक्षयो निर्विकारः ।

कथं कर्मबन्धावसक्तो भवेत्स:
स्फुरल्लीलयैवास्ति जातस्तथापि ।।१७।।

परब्रह्मस्वरूप, अक्षय, निर्विकार तथा स्वयं चैतन्याधिष्ठान जो त्रिलोकी का नियन्ता है भला वह कर्मबन्धन से कैसे प्रभावित हो सकता है ? फिर भी अपनी देदीप्यमान लीलामात्र से ही वह (पुत्ररूप) में उत्पन्न हुआ है ।

पुनर्देवसाम्राज्यसंस्थापनार्थं
महैश्वर्य ! जातोऽसि कुक्षौ जनन्याः ।
ऋतं स्थापय प्रेरय प्रीतिबन्धं
द्युसद्दैत्ययोर्विश्वधामन्नमस्ते ।।१८।।

हे महाऐश्वर्यशालिन् ! आप पुनः देवसाम्राज्य की संस्थापना के लिए माता (अदिति) की कोख में उत्पन्न हुए हैं । आप (अब) ऋत की स्थापना करें, प्रेम के वातावरण को प्रसारित करें—देवताओं तथा दानवों के बीच ! हे विश्वधामन् ! आपको नमस्कार है ।

स्तुतिं श्रद्धया दिव्यभावान्वितां तां
निवेद्यागमत्पद्मयोनिस्स्वलोकम् ।
इतो जातकर्मादिसंस्काररीतिं
मुदा कश्यपः पूरयामास तूर्णम् ।।१९।।

दिव्य भावनाओं से ओतप्रोत उस स्तुति को श्रद्धापूर्वक निवेदित कर पद्मयोनि (ब्रह्मा) अपने लोक को चले गये । इधर महर्षि कश्यप ने भी शीघ्रतापूर्वक शिशु के जातकर्मादि संस्कारों की औपचारिकता को प्रसन्नतापूर्वक सम्पन्न किया ।

दिनानि व्यतीयुर्गताः पक्षमासा
अतीतान्यहो पञ्चवर्षाणि चापि ।
न सस्मार तूर्णङ्गतं हायनानां
सुतप्रेमसिन्धुप्रमग्नाऽदितिस्सा ।।२०।।

दिन बीते, पखवारे और महीने भी बीत चले । आश्चर्य की बात कि पाँच वर्ष भी बीत गये । देवी अदिति, पुत्रप्रेम के सागर मे अवगाहन करती, उन वर्षों की, सत्वर आवाजाही का अनुभव तक नहीं कर सकीं ।

वटुं वामनं प्रेक्ष्य तेजोऽवदातं
सुतं चिन्मयं सर्वसंस्कारपूतम् ।
स्वकुक्षिस्थनारायणं मोदमाना
परां तुष्टिमापादितिर्देवमाता ॥२१॥

तेजस्विता से प्रकाशमान, समस्त संस्कारों से परिपूत चिन्मय पुत्र वटु वामन को देख कर, साक्षात् नारायण को ही अपनी कोख में अवतरित मानकर आह्लादित देवमाता अदिति परम तुष्टि को प्राप्त हुईं ।

शिशुक्रीडयाऽऽह्लादिता सा निकामं
सुखं प्राप मायावसक्तप्रवृत्तिः ।
स्मृते सद्रहस्ये परं विस्मयं सा
दधे पुत्ररूपं हरिञ्चावलोक्य ॥२२॥

माया-मोह से ग्रस्त स्वभाव वाली वह अदिति पुत्र की बालक्रीड़ा से रस-विभोर होकर, अतिशय सुखी हुईं । परन्तु उत्कृष्ट रहस्य की स्मृति आते ही, पुत्ररूप भगवान् विष्णु को देखकर वह परमाश्चर्य को प्राप्त हो उठीं ।

कदाचिद्यदा बालरूपं परेशं
मुदाऽपाययत्सा स्तनौ क्षीरनम्रौ ।
रहस्यं ह्यकस्मात्स्मरन्ती नितान्तं
महाश्चर्यभावं प्रपेदेऽन्तराले ॥२३॥

जब कभी वह शिशुरूपधारी परमेश्वर को प्रसन्नतापूर्वक दूध से भरे स्तनों को पिलाती थीं तब अकस्मात् ही उस 'रहस्य' का स्मरण करती हुई मन ही मन अत्यधिक विस्मित हो उठती थीं ।

यदा चाश्रमीयं मृगं लोललोलं
ग्रहीतुं सुतो भूरियत्नो बभूव।
तदा देवमाता स्मितान्यादधाना
मनस्येवमासीच्चिरं चिन्तयन्ती ॥२४॥

जब कभी अतिशय चंचल आश्रम-मृग को पकड़ने के लिए पुत्र नाना प्रकार के प्रयत्न करता था तब मुस्कान बिखेरती हुई देवमाता अदिति अपने मन में चिरकाल तक विसूरने लगती थीं।

अहो यस्य कुक्षौ स्थितोऽयं प्रपञ्चो
जगत्प्राणिनां गोष्पदं यस्य सिन्धुः।
ग्रहीतुं मृगञ्चापि नास्त्येव शक्तः
स मायानटो वामनो ह्यादितेयः ॥२५॥

'अहो ! जिसकी कुक्षि में सांसारिक जीवों का यह प्रपञ्च (विस्तार) समाया रहता है और समुद्र जिसके लिये गोष्पद (गाय के खुर) के समान है वही अदिति का पुत्र, लीलापुरुष वामन हिरन को भी पकड़ पाने में समर्थ नहीं हो पा रहा है?

बुभुक्षुर्वटुर्वामनो मुक्तकण्ठं
यदा स्तन्यपानाय तारं रुरोद।
हसन्ती समुत्थाप्य बालं निजाङ्के
तदा मंत्रयामास देवी स्वचित्ते ॥२६॥

वटु रूपधर वामन बुभुक्षावश जब कभी स्तनपान करने के लिये गला फाड़कर ऊँचे स्वर में रोने लगते तब हँसती हुई देवी अदिति बच्चे को अपनी गोदी में उठाकर मन ही मन कहने लगतीं—।

जगत्स्थावरं जङ्गमं यस्त्वमेकः
प्रभो ! पालयस्यन्नपानादिभोज्यैः।

कथं तत्स्वयं लक्ष्यसेऽद्धा बुभुक्षुः
पिपासुर्न्न चाहं रहस्यं प्रवेद्मि ।।२७।।

हे प्रभो ! स्थावर एवं जंगम जगत् को जो तुम अकेले ही अन्न-पानादि भोज्य पदार्थों से पालते हो तब फिर स्वयमेव तुम सचमुच भूखे और प्यासे क्यों दिखाई पड़ते हो ? मैं इस रहस्य को नहीं समझ पा रही हूँ ।

न विभ्रान्तिमेष्यामि विज्ञाततत्त्वा
स्फुटं लीलय त्वं निकामं परेश !
प्रसूताऽस्म्यहं काममेवं तथापि
प्रभो ! पादपद्मावसक्तास्मि नित्यम् ।।२८।।

परमार्थ सत्य को जान लेने के बाद (अब) मैं भ्रान्ति में नहीं पड़ूँगी । हे जगदीश्वर ! आप जी भर कर अपनी लीला का स्फुट प्रदर्शन करें । भले ही मैंने आपको जन्म दिया है फिर भी हे प्रभो ! मैं निरन्तर आपके चरण-कमलों में अर्पित (भक्त) हूँ ।

महत्त्वं न किञ्चित्प्रभो ! काष्ठवल्ल्या
यदि प्रोद्धुरं सौरभं व्यातनोति ।
प्रधानं नु तत्सौरभं यद्धि काष्ठं
समालिङ्ग्य पाटीरतां संविधत्ते ।।२९।।

हे नाथ ! काष्ठवल्ली का तिल भर भी महत्व नहीं है जो कि वह परम प्रभावशाली सौरभ को बिखेरती है । महत्त्वपूर्ण तो है (स्वयं) वह सौरभ जो कि काष्ठ का आश्रय लेकर उसे पाटीरता (चन्दनत्व) प्रदान कर देता है ।

ममोत्सङ्गजीभूय माहात्म्यमूर्ध्वं
ददौ यद्भवान् मह्यमेवं भवेश !
तवैवानुकम्पा ययाऽहं विपूता
प्रसूभूरिभाग्यं महार्घं तनोमि ।।३०।।

हे भवेश ! मेरी कोख में जन्म लेने वाले पुत्र का रूप धारण कर आपने मुझे जो गौरव प्रदान किया है वह आपकी अनुकम्पा है जिसके द्वारा पवित्रित मैं अत्यन्त मूल्यवान जन्मदात्री माँ के सौभाग्य का पात्र बन रही हूँ ।

अलं बाललीलाभिराश्चर्यकर्मन् !
अलम्मुग्धमातृप्रमोदप्रयासैः ।
प्रभो ! ग्लानिसिन्धुप्रलीनः स्वबन्धु-
स्त्वयोद्धारणीयश्च्युतो वै महिम्ना ॥३१॥

हे आश्चर्यकर्मन् ! अब आप अपनी बाललीलाओं का संवरण करें । अपनी भोली-भाली जननी को आनन्दित करने के प्रयासों को भी बन्द करें । हे प्रभो ! ग्लानि के समुद्र में डूबे तथा महिमा से च्युत अपने बन्धु (देवराज इन्द्र) का उद्धार करें ।

इतीवानिशं व्याहरद्देवमाता
वटुं वामनं लालयन्ती स्वकुक्षौ ।
भविष्योत्सवालोकनोद्विग्नचित्ता
न मेनेऽधिकं सा स्थितं वर्तमानम् ॥३२॥

वामन वटु को अपनी गोद में दुलारती हुई तथा भावी महोत्सवों को देखने के लिये उद्विग्न चित्त वाली देवमाता अदिति ने इस प्रकार निरन्तर (पुत्र से) कहा । अपने समक्ष विद्यमान 'वर्तमान' से ही वह सन्तुष्ट नहीं थी ।

प्रभातं गतं सानुरागाऽऽजगाम
प्रदोषानुसन्ध्यां ततश्च त्रियामा ।
प्रभातं पुनश्चक्रमित्थं ह्यविघ्नं
महाकालसंज्ञस्य नित्यं ससार ॥३३॥

प्रभातकाल बीता । उसके अनन्तर अरुणिमा से भरी प्रदोष वेला (सन्ध्या) आई और उसके भी पीछे तीन पहरों की रात ! रात के बाद पुनः भोर हुई ।

इस प्रकार महाकाल संज्ञा वाले परमेश्वर का नियमित कालचक्र निर्विघ्न आगे बढ़ता रहा।

कदाचित्ततः कश्यपोऽसौ महर्षिः
प्रियां प्राह देवि ! प्रमादो न कार्यः।
अयं योग्यकालोऽस्ति विद्यागमानां
स्थितः पञ्चमे हायने दारकोऽयम् ।।३४।।

तब, एक बार उन महर्षि कश्यप ने प्रिया अदिति से कहा—देवि ! प्रमाद नहीं करना चाहिये। हमारा यह शिशु पाँचवें वर्ष में पहुँच गया है। यही विद्यागमों के लिए समुचित समय है।

अतो देयमस्मै द्विजत्वप्रतीकं
शुभं यज्ञसूत्रं सुसंस्कारपूतम्।
भवेद्येन बालो न विभ्रष्टचित्तो
यतश्चित्तवृत्तिस्समेषां प्रमाणम् ।।३५।।

अतएव श्रेष्ठ संस्कारों से परिपूत, द्विजत्व का प्रतीकभूत पवित्र यज्ञोपवीत इसे प्रदान कर देना चाहिये जिससे कि बच्चे का मन दूषित न हो सके। क्योंकि चित्त की वृत्ति ही सबका प्रमाण है।

यथा मृत्तिका तोयसिक्ता यथेष्टं
विधातुं भवेत्क्रीडनं सोपयोगा।
परं शोषमेता न योग्या विकर्तुं
तथा शैशवं देवि ! जानीहि कम्रम् ।।३६।।

जैसे जल में सनी (नरम) माटी, मनचाहा खिलौना बनाने में उपयोगी होती हैं परन्तु सूखते ही बनाने-बिगाड़ने योग्य नहीं रह जाती, हे देवि ! कोमल शैशव को भी बस वैसा ही समझो।

मनः कोमलं कोमला चापि बुद्धिः
स्फुरच्चिन्तनं कोमलं दारकाणाम् ।
ततश्चैव संस्काररोहोऽप्यमीषां
मनस्स्वस्ति शक्यो विनैव प्रयासैः ॥३७॥

बच्चों का मन कोमल होता है, बुद्धि भी कोमल होती है और उनका साफ-सुथरा विचार भी कोमल (ही) होता है। यही कारण है कि उनके मन में संस्कारों की स्थापना भी, प्रयासों के बिना ही, संभव हो जाती है।

निपीयाऽमृतं कान्तवाचामुदारं
परं हृद्यतोषं ययौ देवमाता।
शुभं यज्ञसूत्रोत्सवं संविधातुं
पतिं धर्मतत्त्वप्रवीणं ननन्द ॥३८॥

प्रियतम के वार्तासूत्रों का मनोरम अमृत पीकर देवमाता अदिति परम आह्लादक परितोष को प्राप्त हुईं। पवित्र यज्ञोपवीत-महोत्सव का आयोजन करने के लिये धर्मतत्त्व-प्रवीण (अपने) स्वामी का उन्हों ने अभिनन्दन किया।

आश्रमेऽथ समाचारः शुभः कर्णपरम्पराम्।
अधिरूढस्ससारोच्चैर्यज्ञसूत्रोत्सवात्मकः ॥३९॥

उसके अनन्तर यज्ञोपवीत-महोत्सव का वह शुभ समाचार कर्णपरम्परया, तीव्रता के साथ आश्रम में फैलने लगा।

वैखानसा महोत्साहैर्युयुजुर्द्रव्यसञ्चये।
कश्यपानुमतिं प्राप्य काननस्थलकोविदाः ॥४०॥

वैखानस (ब्रह्मचारी) बड़े उत्साह के साथ द्रव्यसञ्चय में जुट गए, महर्षि कश्यप की अनुमति प्राप्त कर। वे वनस्थलों से भलीभाँति परिचित थे।

क्वोदुम्बरवनं रम्यं क्व पलाशः क्व शाल्मलिः ।
अपामार्गवृतिः क्वेति सर्वमेव विजज्ञिरे ।।४१।।

कहाँ रमणीय उदुम्बर वृक्षों (गूलर) का वन है ? कहाँ पलाश है ? कहाँ शाल्मलि (सेमर) है ? अपामार्ग के झुरमुट कहाँ हैं ? इन सारी बातों को वे वैखानस भलीभाँति जानते थे ।

मधुकोशात्कथं ग्राह्यं माक्षिकं मधु कानने ।
विदुस्सर्वरहस्यन्ते जीवप्रकृतिवेदिनः ।।४२।।

कानन में मधुमक्खी के छत्तें से मधु कैसे दुहीं जाती हैं ? जीवों के स्वभाव से सुपरिचित वे (इन) सभी रहस्यों को जानते थे ।

दर्भाहरणमर्मज्ञा मुष्टिकादारणं विना ।
तोरणादिविधानेऽपि स्वयमग्रेसराश्च ते ।।४३।।

हाथों की मुट्ठियों में बिना खरोंच लगे वे कुश उखाड़ने की कला के मर्मज्ञ थे । तोरण इत्यादि का निर्माण करने में भी वे स्वयमेव आगे रहने वाले थे ।

पूर्वानुभवसम्पन्नाः पूर्वाध्वरसहायकाः ।
प्रशिक्षिताः क्रतौ सर्वे कश्यपान्तेनिवासिनः ।।४४।।

वे (यज्ञोपवीतोत्सव-सम्बन्धी) पूर्व अनुभवों से सम्पन्न थे । पहले भी वे यज्ञकार्यों में सहायक रह चुके थे । महर्षि कश्यप के ये सभी शिष्य यज्ञसम्पादन में प्रशिक्षित थे ।

तापसीनां च सम्मर्दे यज्ञसूत्रमहोत्सवः ।
महताभिनिवेशेन बहुमानमुपागतः ।।४५।।

तापस-महिलाओं की मण्डली में वह यज्ञोपवीत-महोत्सव महान् अभिनिवेश (रुचि) के कारण आदर का विषय बन गया ।

जगुर्मङ्गलगीतानि धर्मभार्यास्तपस्विनाम् ।
महोत्साहसमारम्भो ददृशे कश्यपाश्रमे ॥४६॥

तपस्वियों की धर्मपत्नियों ने मंगलगीत गाना प्रारम्भ कर दिया । महर्षि कश्यप के आश्रम में महान् उछाह का समारंभ दीखने लगा ।

परेषां सुखदुःखानि प्रतीयन्ते यदात्मनः ।
प्रवृत्तिस्सा मनुष्याणां लोकरम्या सचेतसाम् ॥४७॥

दूसरों के सुख एवं दुख भी जो 'अपने' प्रतीत होने लगते हैं, सहृदय मनुष्यों की वही लोक-रमणीय प्रवृत्ति है ।

प्रवाहे सरितां यद्वद् बुद्बुदावर्तवीचयः ।
जीवनेऽपि तथा नृणां सुखदुःखादिभावनाः ॥४८॥

जैसे नदियों के प्रवाह में पानी के बुलबुले, जलावर्त तथा तरंगे होती हैं मनुष्यों के जीवन में भी उसी प्रकार सुख एवं दुःख आदि की संवेदनाएँ होती हैं ।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥४९॥

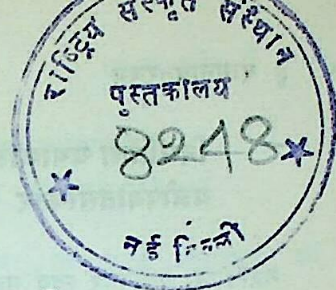
कवित्व के शिखरभूत, मोती सदृश व्यक्तित्व वाले जिस पुत्र को वन्दनीया देवी अभिराजी ने अपनी सीपी जैसी कोख में, दुर्गा प्रसाद के सहयोग से जन्म दिया— श्री देवेन्द्र एवं सुरेन्द्र का मध्यममणिकल्प वही राजेन्द्र मिश्र अपने हृदय की सन्तुष्टि के लिए, देववाणी में भगवान् वामन का यशोगान कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥५०॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव कवि के गीत जिसके पत्रसमूह हैं, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—वह अभिराज राजेन्द्ररूपी काव्यवृक्ष चिरञ्जीवी हो ।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
वामनावतरणाभिधः षष्ठः सर्गः ।

●●




# सप्तमः सर्गः

अथागते शुभे योगे तिथिनक्षत्रसम्मते ।
कश्यपोऽसौ महातेजा विदधे संविधानकम् ।।१।।

इसके अनन्तर अनुकूल तिथि एवं नक्षत्र से युक्त शुभ योग के आ जाने पर महातेजस्वी उन महर्षि कश्यप ने (यज्ञोपवीत) महोत्सव का आयोजन किया ।

कलापकम्

ऋत्विजो वेदनिष्णाता गूढमंत्रार्थपारगाः ।
शाखारहस्यतत्त्वज्ञा विनियोगविचक्षणाः ।।२।।

गूढ़ मन्त्रार्थ के ज्ञान में पारंगत वेदनिष्णात ऋत्विज, वेदशाखाओं के रहस्यों के तत्त्ववेत्ता, मंत्रों के विनियोग में विचक्षण ।

पाठे चैव प्रयोगे च द्विपदीनां क्वचित्पुनः ।
ऋचां चतुष्पदीनाञ्च हेतुभेदप्रयोजकाः ।।३।।

कहीं-कहीं पर द्विपदी तथा चतुष्पदी ऋचाओं के कारणों तथा भिन्नताओं के (यथोचित) प्रयोक्ता तथा उनके पाठ एवं प्रयोग में दक्ष ।

षडङ्गवेदाध्येतारः शास्त्रमर्मसमीक्षकाः ।
महर्षयोऽप्यनूचानाः धर्मशास्त्रनियामकाः ।।४।।

शिक्षा कल्पादि षडंगयुक्त वेदों के अध्येता, शास्त्रों के मर्मों के समीक्षक, वेदाध्ययननिष्ठ तथा धर्मशास्त्रीय नियमों के सर्जक ।

निमंत्रिता यथाकालं कश्यपेन वटोः स्वयम् ।
यज्ञोपवीतसंस्कारं सम्पादयितुमादरात् ॥५॥

महर्षिगण, यथावसर स्वयं महर्षि कश्यप द्वारा आदर पूर्वक आमंत्रित किये गए—वटु वामन के यज्ञोपवीत-संस्कार के सम्पादनार्थ ।

शालाश्च नूतना रम्यास्तृणैः शरवणोद्भवैः ।
पंक्तिबद्धा निवासाय प्राघुणानां विनिर्मिताः ॥६॥

शरवण (सरपत) से उत्पन्न होने वाले तृणों द्वारा, अतिथियों के निवासार्थ मनोरम तथा पंक्तिवद्ध नूतन पर्णशालाएँ विधिपूर्वक निर्मित की गईं ।

मृगाः शुका मयूराश्च सारिकाः कोकिला गृहे ।
निर्मला विहिताः शिष्यैर्निपानजलमार्जनैः ॥७॥

शिष्यों द्वारा, सरोवर के जल से नहला कर आश्रम के पालतू मृग, शुक, मयूर सारिकाएँ तथा कोकिल निर्मल बना दिये गये ।

वीरुधो भूमिशायिन्यः सहकारादिभूरुहाम् ।
स्कन्धेष्वारोपिता यत्नैर्गाढाश्लेषैर्जडीकृताः ॥८॥

जमीन पर गिरो लताएँ आम्रादि वृक्षों के तनों पर प्रयत्नपूर्वक चढ़ा दी गईं और उन्हें भरपूर लपेट कर सुस्थिर (अचल) वना दिया गया ।

आतपाच्छुष्कतां याता रोगयुक्ताश्च नीरसाः ।
शाखा बकुलवृक्षाणामवचित्य पृथक्कृताः ॥९॥

निदाघदाह के कारण सूखी अथवा रोग के कारण मुरझाई मौलसिरी वृक्षों की टहनियों को काट कर अलग कर दिया गया ।

आलवालं सुगम्भीरं प्राज्यनीरप्रहक्षमम् ।
प्रतिवृक्षं विधायाम्बुप्रवाहैश्चापि पूरितम् ।।१०।।

प्रत्येक वृक्ष के आलवाल (थाले) को खूब गहरा, तथा प्रभूत जल ग्रहण कर सकने में समर्थ बना कर, जलधाराओं से पूरित कर दिया गया।

पलाशोदुम्बराश्वत्थशमीखदिरशाखिनाम् ।
काष्ठं पुञ्जीकृतं सर्वं मखकर्मोपयोगिनाम् ।।११।।

यज्ञकर्म के काम आने वाली, सारी की सारी पलाश, गूलर, पीपल, शमी तथा खदिर वृक्षों की लकड़ियाँ एकत्र कर ली गईं।

युग्मकम्

दूर्वातिलमधूशीरनागवल्लीघृतादिकम् ।
गोरोचनञ्च पाटीरं कस्तूरो वंशलोचनम् ।।१२।।

दूब, तिल, मधु, खस, ताम्बूल, घृतादि, गोरोचना, चन्दन, कस्तूरी, वंशलोचन।

तीर्थतोयमृदाश्चापि नारिकेलादिसत्फलम् ।
मुहूर्तदिवसात्पूर्वं सञ्चितं सर्वमाश्रमे ।।१३।।

तीर्थ का जल, तीर्थ की मिट्टी तथा नारियल इत्यादि श्रेष्ठ फल—सब कुछ यज्ञोपवीत मुहूर्त के दिन से पूर्व ही आश्रम में संचित कर लिया गया।

कन्दमूलादिभक्ष्याणां संग्रहोऽपि यथोचितम् ।
वैखानसैः कृतः प्राज्यं प्रकृतापेक्षयाधिकम् ।।१४।।

आश्रमवासी ब्रह्मचारियों ने, सामान्य आवश्यकता से भी कहीं अधिक, कन्द-मूलादि खाद्य पदार्थों का यथोचित एवं विपुल संग्रह कर लिया।

कश्यपाश्रममध्यांशे निर्मिता चारुवेदिका ।
मृत्तिकाभिः पवित्राभिः परितश्चेष्टकावृता ।।१५।।

महर्षि कश्यप के आश्रम में बीचोबीच पवित्र मृत्तिकाओं द्वारा एक मनोरम यंज्ञवेदी बना दी गई जो चारों ओर पक्की ईंटों से घिरी हुई थी ।

निर्मितं छादनं रम्यं तृणपल्लवकल्पितम् ।
निखातकीचकस्तम्भैर्निबद्धं वेदिकोपरि ।।१६।।

वेदिका के ऊपर, गहरे गाड़े गए सूखे वंशदण्डों पर स्थापित तृणों एवं पल्लवों से निर्मित रमणीय छप्पर स्थापित कर दिया गया ।

शुल्वसूत्रप्रमाणैश्च यज्ञकुण्डं मनोरमम् ।
मध्येविटङ्कमुत्कीर्णं गम्भीरं दर्भमण्डितम् ।।१७।।

यज्ञवेदी के भी मध्यभाग में एक गहरा, मनोरम तथा (आस्तीर्ण) कुशों से अलंकृत यज्ञकुण्ड, शुल्वसूत्रों के प्रमाणानुसार खोदा गया ।

ऋत्विजाञ्च महर्षीणामाचार्यप्रवरस्य च ।
आसनं पार्थिवं रम्यं वेदिकायां विनिर्मितम् ।।१८।।

ऋत्विजों (अतिथि) महर्षियों तथा यज्ञ के आचार्यप्रवर के (बैठने के) लिए वेदी के ऊपर रमणीय पार्थिव आसन (यथास्थान) बनाये गए ।

यज्ञोपवीतसंस्कारे जटिले संविधानके ।
एवं हि पूर्णतां याते कश्यपो मुमुदे हृदि ।।१९।।

जटिल कर्मानुष्ठान वाले यज्ञोपवीत-संस्कार के, इस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर लेने पर महर्षि कश्यप मन ही मन आह्लादित हो उठे ।

अथाऽगते महोत्साहे संस्कारदिवसेऽनघे ।
महान् प्रघुणसम्मर्द आश्रमे समदृश्यत ।।२०।।

इसके अनन्तर महान् उत्साह से परिपूर्ण यज्ञोपवीत-संस्कार का मंगलमय दिन उपस्थित हो जाने पर आश्रम में पाहुनों की विशाल भीड़ दीखने लगी ।

युग्मकम्

देवाङ्गनाश्च देव्यश्च विबुधाः कामरूपिणः ।
सिद्धचारणगन्धर्वा नागगुह्यककिन्नराः ।।२१।।

देवांगनाएँ, देवपत्नियाँ, मनोवांछित रूप धारण करने वाले देवगण, सिद्ध-चारण-गन्धर्व तथा नाग-यक्ष-किन्नर ।

ऋषयः पितरस्सर्वे दिव्यज्ञानसमन्विताः ।
संस्कृतं द्रष्टुमाजग्मुर्मायामाणवकं हरिम् ।।२२।।

दिव्य ज्ञान से समवेत समस्त ऋषि एवं पितृगण, अपनी माया से ही शिशुरूप धारण करने वाले श्रीहरि को संस्कार-सम्पन्न होता देखने के लिए आ पहुँचे ।

तत ऋत्विङ्मुखोद्गीर्णैर्दिव्यपुण्याहवाचनैः ।
वेदमंत्रसमुच्चारैर्नादितं नीलमम्बरम् ।।२३।।

इसके अनन्तर ऋत्विजों के मुखों से अभिव्यक्त दिव्य पुण्याहवाचन-मंत्रों तथा (अन्यान्य) वेदमंत्रोच्चारणों से नील नभोमण्डल निनादित हो उठा ।

गौर्या गणपतेश्चापि ग्रहाणां पूजने कृते ।
षोडशमातृकापूजा यथाविधि समर्थिता ।।२४।।

गौरी, गणेश तथा नवग्रहों की पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद षोडश मातृकाओं की यथाविधि समर्चना की गई ।

सर्वं शास्त्रानुकूलं तल्लोकवेदसमर्थितम् ।
क्रमेणैव शनैः पूर्णं गीतमाङ्गल्यसत्कृतम् ।।२५।।

लोक एवं वेद द्वारा समर्थित, गीतों एवं मंगलानुष्ठानों से अलंकृत शास्त्रानुकूल वह सारा का सारा कार्य धीरे-धीरे क्रमशः सम्पन्न हुआ ।

ततश्च मुख्यसंस्कारं नाम्नोपनयनं शुभम् ।
सम्पादयितुमाहूतो वामनः पञ्चहायनः ।।२६।।

इसके अनन्तर मुख्य संस्कार पवित्र 'उपनयन' को सम्पन्न करने के लिए पञ्चवर्षीय वटुवामन को बुलाया गया ।

युग्मकम्

दृष्ट्वा तं देवदेवेशं वटुं वामनरूपिणम् ।
मन्दस्मेराधरं रम्यं बालमार्तण्डसन्निभम् ।।२७।।

मन्द मुस्कान से सुशोभित अधर वाले, बाल सूर्य के समान (तेजस्वी) वामनरूपधारी उन मनोहर देवेश्वर को देख कर ।

जयेति वचनैर्दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः ।
देव्यो देवाश्च लोकाश्च परं हर्षमुपागताः ।।२८।।

जयजयकार-वचनों से आह्लादित हो उठने वाले महर्षिगण देवगण, देवपत्नियाँ तथा सामाजिकगण परम हर्ष को प्राप्त हो उठे ।

पद्मयोनिं पुरस्कृत्य वन्द्यं लोकपितामहम् ।
कर्माणि कारयामासुर्विधिज्ञास्ते महर्षयः ।।२९।।

वेदविधि में पारंगत उन महर्षियों ने लोक-पितामह वन्दनीय भगवान् पद्मयोनि को आगे करके समस्त कृत्यों को सम्पन्न कराया ।

युग्मकम्

दधानः पादुके रम्ये रुचिरे काष्ठनिर्मिते ।
वसानश्चापि कौपीनं मौञ्ज्या मेखलयाऽऽयतम् ।।३०।।

काष्ठनिर्मित मनोरम तथा सुन्दर पादुकाओं को धारण किये हुए, मौञ्जी मेखला से कस कर बाँधे गये कौपीन को पहने हुये ।

पलाशदण्डहस्तोऽसौ लम्बमानकमण्डलुः ।
छत्रं स्वकुक्षौ विन्यस्य शुशुभे वामनो वटुः ।।३१।।

हाथ में पलाशदण्ड लिए, (दूसरे हाथ में) कमण्डलु लटकाए, तथा काँख में छत्ता दवाये हुए वटु वामन सुशोभित हो उठे ।

युग्मकम्

दिव्यरूपधरे देवे वामने पञ्चहायने ।
राजमाने मखक्षेत्रे लोकलोचनहारिणि ।।३२।।

दिव्यरूपधारी तथा सबकी दृष्टियों को बरबस आकृष्ट कर लेने वाले पञ्च-वर्षीय भगवान् वामन के यज्ञमण्डप में उपस्थित होने पर ।

देवमाताऽदितिः साध्वी मोदभारविसंष्ठुला ।
जगाम मानसं सौख्यं पयसा प्रस्नुतस्तनी ।।३३।।

आह्लाद के भार से विसंष्ठुल (लड़खड़ाती) साध्वी देवमाता अदिति मानसिक सौख्य में डूब गईं और उनके स्तनों में (वात्सल्य के कारण) दूध उतर आया ।

सन्दानितकम्

अहीनं वत्समालोक्य लोललोचनतारकम् ।
हुम्भारवोत्सुका गृष्टिर्वत्सलेव तदुन्मुखी ।।३४ ।।

जैसे एक दिन पूर्व पैदा हुए, चंचल नेत्रतारक वाले बछड़े को देख कर रँभाती हुई उत्कण्ठित, वत्सला गाय उसकी ओर दौड़ पड़ती है ।

बालेन्दुशोभिता यद्वा सितपक्षेव शर्वरी ।
वल्लरीव परं नव्यं दधती पुष्पकोरकम् ।।३५।।

अथवा शुक्लपक्ष की रजनी जैसे बाल चन्द्रमा से शोभित हो उठती है, अथवा वल्लरी जैसे रमणीय नवीन पुष्पको को धारण करती है ।

कन्दाङ्कुरणसन्नद्धा धरित्रीव महीयसी ।
वामनं वटुकं दृष्ट्वा मुमुदे कश्यपाङ्गना ।।३६।।

अथवा महीयसी धरित्री जैसे कन्द के अंकुरण से अलंकृत हो उठती है, उसी प्रकार वटु वामन को देख कश्यप-प्रिया अदिति हर्षविभोर हो उठीं ।

उदतिष्ठत्ततो रावः पूरिताकाशमण्डपः ।
मोहनो वटुगीतानां पर्णशालास्थसुभ्रुवाम् ।।३७।।

उसके अनन्तर पर्णशालाओं में बैठी, सुन्दर भौहों वाली रमणियों (द्वारा प्रस्तुत) वटुगीतों (बरुआ) का आकाशमण्डप-व्यापी मनोमुग्धकारी स्वर फूट पड़ा ।

लोकगीतानि वाद्यानि वेदमंत्राश्च पावनाः ।
पृथक्पृथगभूत्सर्वं जातं पश्चाच्च मिश्रितम् ।।३८।।

लोकपरम्परा के गीत, वाद्यप्रस्तुतियाँ, पवित्र वेदमंत्रों के गायन—सब अलग-अलग प्रस्तुत किये गये और बाद में सब परस्पर मिश्रित हो उठे ।

यो यज्जगौ स शुश्राव तदेवात्मनियंत्रितः ।
नान्यत्किञ्चित्स्वसौ वेद निजविस्मृतिशंकया ।।३९।।

जिसने जो कुछ गाया, आत्मनियंत्रित होकर उसने वही भर सुना। वह अपना भूल जाने के भयवश और कुछ नहीं अनुभव कर सका।

युग्मकम्

यथा कषायतिक्ताम्लमधुलावण्यमिश्रितः।
सञ्जायतेऽद्भुतस्वादः पानकाख्यो महारसः ॥४०॥

जैसे कसैला, तीता, अम्ल, मीठा तथा नमकीन स्वाद वाला सम्मिश्रित पानक नाम वाला 'महारस' अद्भुत स्वाद वाला बन जाता है।

तथैव भिन्ननादानां सङ्गमैर्विसंवादिनाम्।
जातं विलक्षणं तत्र नव्यं नादरसायनम् ॥४१॥

ठीक उसी प्रकार एक दूसरे से (सर्वथा) बेमेल भिन्न-भिन्न नादों के संगम से उस समारोह में एक विलक्षण अभिनव 'नादरसायन' प्रस्तुत हो गया।

नक्षत्रेन्दुनभोगङ्गाऽप्युल्कापिण्डादिमण्डितम्।
व्यायतं व्योमसंकाशं बभासे यज्ञमण्डपम् ॥४२॥

विस्तृत यज्ञमण्डप नक्षत्रमण्डल, चन्द्रमा, आकाशगंगा तथा उल्कापिण्डादि से मण्डित आकाश के समान देदीप्यमान हो उठा।

अवादीत्सावित्रीं स्वयममिततेजास्स सविता
ददौ ब्राह्मं सूत्रं विबुधगुरुरूर्ध्वाय वटवे।
उपेन्द्राणां तेषामुपनयनसंस्कारणविधौ
ददौ भिक्षामम्बा स्वयमपि भवानी भगवती ॥४३॥

अमित तेजस्-सम्पन्न सविता (सूर्य) ने स्वयं गायत्री मंत्र का उच्चारण किया। देवगुरु बृहस्पति ने श्रेष्ठ वटु वामन को ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) पहनाया। भगवान् उपेन्द्र (वामन) के उपनयन-संस्कार की विधि में भगवती भवानी ने स्वयं (माँ की ओर से) भिक्षा प्रदान की।

अयच्छदस्मै नवमुञ्जमेखलां स्वयं पिता चास्य महर्षिकश्यपः ।
मृगाजिनं भूमिरदान्मलीमसं पलाशदण्डश्च वनस्पतिर्महान् ।।४४।।

भगवान् वामन के पिताश्री महर्षि कश्यप ने स्वयमेव उन्हें नवीन मूँज से बनी मेखला प्रदान की । देवी वसुन्धरा ने उन्हें काला मृगचर्म तथा श्रेष्ठ वनस्पति (देवता) ने पलाशदण्ड प्रदान किया ।

कमण्डलुं वेदपतिः पितामहः सरस्वती चापि जपाक्षमालिकाम् ।
पिशङ्गकौपीनमदात्स्मितोन्मुखी प्रसूः स्वयं देव्यदितिः स्वसूनवे ।।४५।।

वेदपति पितामह (ब्रह्मा) ने वामन को कमण्डलु, सरस्वती ने जप करने के लिये अक्षमाला तथा जन्मदात्री देवी अदिति ने स्वयं अपने पुत्र को, मुस्काते हुए, पीली कछौटी प्रदान की ।

कुशांश्च सप्तर्षिचयो ददौ मुदा महार्घछत्रं स्वयमन्तरिक्षकम् ।
स राजराजो ननु गुह्यकेश्वरोऽप्ययच्छदस्मै मणिरत्नपत्रिकाम् ।।४६।।

सप्तर्षियों ने उन्हें कुश प्रदान किया, अन्तरिक्ष ने महामूल्यवान् छत्र दिया और राजराज प्रख्यात भगवान् कुबेर ने भगवान् वामन को मणियों तथा रत्नों से खचित पत्रिकाएँ प्रदान कीं ।

कृताभिषेकाय समग्रदैवतैः सुविग्रहैस्तत्र मखेऽभ्युपस्थितैः ।
जयेति जीवेति समग्रपार्षदैरवादि तस्मै वटवे मनस्विने ।।४७।।

शोभन व्यक्तित्व वाले उस यज्ञ-मण्डप में उपस्थित समस्त देवताओं द्वारा तथा समस्त सभासदों द्वारा अभिषेक से निवृत्त उन मनस्वी वटु भगवान् वामन के प्रति 'विजयी भव' तथा 'चिरञ्जीव' सरीखा आशीष प्रदान किया गया ।

ततश्च नृत्यैः करणाङ्गहारकैः समन्वितैः कोकिलकण्ठगायनैः ।
महोत्सवैश्चाप्यपरैस्स आश्रमो ह्यपूरि रात्रौ नवकेलिकौतुकैः ।।४८।।

इसके अनन्तर, रात्रिवेला में करण (नृत्यमुद्राएँ) तथा अंगहार से समन्वित नृत्यों, कोकिल-कण्ठों से निस्सृत गायनों तथा अभिनव क्रीडाओं-कौतुकों से ओतप्रोत अन्यान्य महोत्सवों द्वारा वह आश्रम आप्यायित हो उठा।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याभिराजी सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥४९॥

कवित्व के शिखरभूत, मौक्तिक-व्यक्तित्व जिस पुत्र को वन्दनीया देवी अभिराजी ने अपनी सीपी जैसी गोद में, दुर्गाप्रसाद के तेजस् से जन्म प्रदान किया, श्री देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के मध्य मणि सदृश वही राजेन्द्र मिश्र देववाणी के माध्यम से भगवान् वामन का यशोगान अपने हृदय-परितोषार्थ कर रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥५०॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्ध है, जयदेव कवि की अभिव्यक्ति जिसका पत्र-समूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा जिसका पवित्र फल है—अभिराजराजेन्द्ररूपी वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरजीवी हो।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
वामनोपनयनाभिधः सप्तमः सर्गः।

• •

# अष्टमः सर्गः

अथ प्रयातेषु दिनेषु वामनः
समस्तविद्याऽधिगमं वशं दधे ।
न विद्ययाऽसावमुनैव वस्तुत-
स्समस्तविद्याऽपि कृतार्थताङ्गता ।।१।।

इसके अनन्तर, कुछ दिवस बीतने के बाद ही वामन ने समस्त विद्याधिगम को अपने वश में कर लिया । वस्तुतः विद्या से वह नहीं, अपितु विद्यासमूह स्वयं उनसे कृतार्थता को प्राप्त हो गया ।

नवावतारः स्वयमादिपुरुष-
स्त्रयीमयोऽसौ परवेद्यविग्रहः ।
समस्तविद्यानिलयस्य किम्पुन-
र्भवेन्नु विज्ञेयमिह प्रयत्नजम् ।।२।।

वह स्वयं आदिपुरुष वेदत्रयरूपी विग्रहवाले, श्रेष्ठ विद्वज्जनों द्वारा वेदनीय स्वरूप वाले तथा समस्त (अष्टदश) विद्याधिष्ठान के अभिनव अवतार थे । तब फिर भला उनके लिये प्रयत्न से जानने योग्य क्या वस्तु शेष थी ?

स एव विज्ञेयचरं ह्यनेहसि
स एव वेत्ता भुवि वेददीपकः ।
ऋते च तस्मादिह नोऽवशिष्यते
कवित्वकाव्यत्वमयं सुवाङ्मयम् ।।३।।

इस संसार में एकमात्र जानने योग्य वस्तु वही (परमेश्वर) है । भूतल पर वेददीप-स्वरूप वेत्ता भी वही है । उस परमेश्वर के अतिरिक्त इस संसार में कवित्व तथा काव्यत्वमय श्रेष्ठ वाङ्मय शेष नहीं रह जाता है ।

वयःकुमारोऽपि धृतप्रगल्भतः
सुपाण्डितीकश्च विशारदो नये ।
स्वयंप्रभो ज्ञानमहःप्रदीपितो
वटुस्स रेजे परया वपुःश्रिया ॥४॥

अवस्था से कुमार होते हुए भी प्रगल्भता (दक्षता) से ओतप्रोत, श्रेष्ठ पाण्डित्य-मण्डित तथा नयविद्या में विशारद, स्वयंदीप्त तथा ज्ञान के आभामण्डल से दीपित वह वटु वामन उत्कृष्ट व्यक्तित्व-कान्ति से शोभायमान हो उठे ।

कुमारभावोऽप्यकुमारभावनो
लघुत्वकायोऽप्यलघुत्वचिन्तनः ।
अजन्मबन्धोऽपि सजन्मबन्धनोऽ
प्यमानवः सन्नपि मानवः प्रभुः ॥५॥

कौमार्य से युक्त होते हुए भी वह भावनाओं से अकुमार (प्रौढ़) थे । शरीर से लघु (वामन) होते हुए भी वह अलघु (उच्च, प्रशस्त) चिन्तन से युक्त थे । जन्म-बन्धन से मुक्त होते हुए भी वह जन्म के बन्धन में बँधे थे तथा मानवयोनि से परे 'प्रभु' होते हुए भी वह मानवयोनि में उत्पन्न थे ।

स वामनो मातृमुखान्निरन्तरं
बलिप्रवृत्तिं विबुधोपमर्दिनाम् ।
अकुण्ठवेगञ्च जयैषणामदं
निशम्य संकल्पपरोऽभवत्तदा ॥६॥

उसी समय, माँ के मुख से निरन्तर, देवताओं का उपमर्दन करने वाली (दानवराज) बलि की गतिविधि को, उसके अकुण्ठ वेग तथा विजयैषणा-मद को सुनते-सुनते भगवान् वामन ने संकल्प कर लिया ।

न गर्वभारं न च शक्तिताण्डवं
न चाऽप्यमर्यादिदुरन्तपौरुषम् ।

सहे धरायां दिवि चापि कस्यचित्
व्रतं नु मे गर्वविनाशकारकम् ।।७।।

'मैं स्वर्ग अथवा मर्त्यलोक में किसी का गर्वभार, शक्ति का नग्न नृत्य अथवा मर्यादाविहीन परातिपीड़क पराक्रम नहीं सहूँगा। मेरा तो व्रत ही है गर्व का विनाश करना।'

नृपेण किन्तेन महार्घसम्पदा
विशालसैन्येन विवर्धितात्मना ।
प्रशासति प्राणपणेन निर्भयाः
प्रयान्तु भीतिं विबुधाश्च सात्त्विकाः ।।८।।

महामूल्यवान् सम्पत्तियों वाले, विशाल सेनाओं वाले तथा आत्माभ्युदय में लीन उस भूपाल से भला क्या लाभ जिसके शासन करते, प्राणपण से निर्भय रहने वाले सत्त्वगुणोपपन्न देवता भी भय का अनुभव करें ?

हराम्यहं शक्तिमदं दुरत्ययं
बलेर्झटित्येव सुरर्द्धिहारकम् ।
प्रदर्शयिष्यामि च भूरि कौतुकं
स्वमायया भक्तजनार्तिनाशनम् ।।९।।

मैं दानवराज बलि के देव-समृद्धि का अपहरण करने वाले, अविनश्वर शक्तिमद को क्षण भर में ही नष्ट कर दूँगा तथा अपनी माया से भक्तजनों की आर्तियों का अपनोदन करने वाले प्रभूत कौतुक का प्रदर्शन भी करूँगा।

भवेद्यथा ज्ञानविभावसूदयो
मनस्सु नृणां मयि भिन्नवर्त्मनाम् ।
तदेव कार्यं मम सृष्टिगोलके
ऋतञ्च सत्यञ्च निषिच्य यत्नतः ।।१०।।

जिस किसी भी प्रकार, मुझमें निविष्ट प्रीति वाले मनुष्यों के मनों में ज्ञान-रूपी विभावसु का उदय हो, वही मेरे द्वारा करणीय है—इस सृष्टिविस्तार में ऋत एवं सत्य की यत्नपूर्वक प्रतिष्ठा करके।

**युग्मकम्**

**इतीव चित्तेऽभ्युदिता विचारणा**
**शचीपतिक्षेमकरी मनस्विनी।**
**वटोर्यदा वामनरूपधारिणः**
**समर्थयोगा बलिगर्वहारिणी ।।११।।**

शचीपति इन्द्र का कल्याण करने वाली, समर्थ सम्भावना से ओतप्रोत तथा बलि के दुरभिमान को नष्ट करने वाली इस प्रकार की संकल्पना जैसे ही वामन-रूपधारी वटु के चित्त में अभ्युदित हुई।

**श्रुतं तदा कर्णपरम्पराऽऽगतं**
**चरेण वृत्तं यदसौ क्षितीश्वरः।**
**अखिन्नचित्तो यजतेऽश्वमेधिनं**
**मखं क्वचिन्मेकलकन्यकातटे ।।१२।।**

तभी उन्होंने गुप्तचर द्वारा, कर्णपरम्परया प्राप्त, यह समाचार सुना कि दानवराज बलि प्रसन्नचित्त होकर, नर्मदा के तट पर कहीं अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने में लगा है।

**द्विजान् सुविज्ञांश्च समर्च्य भार्गवां-**
**स्तदीयतेजोबलमंत्रमाश्रितः ।**
**बलिर्जिगीषुर्मदभारगर्वितः**
**क्रतूत्तमं साधयतीन्द्रतापकम् ।।१३।।**

(भगवान् वामन ने सुना कि) भृगुवंशोत्पन्न सुविज्ञ ब्राह्मणों का समर्चन कर, उनके तेज बल तथा मंत्रशक्ति का आश्रय लेकर, अभिमान के भार से गर्वित विजया-

कांक्षी बलि, देवराज इन्द्र को सन्तप्त करने वाले उत्तम क्रतु (अश्वमेध) की सिद्धि में निरत है।

प्रणम्य धात्रीं पितरञ्च वामनो
महर्षिवैखानससिद्धकोविदैः ।
परीतकायोऽथ मुदा प्रतिष्ठितोऽ
श्वमेधवाटं भृगुकच्छसंस्थितम् ।।१४।।

(यह समाचार सुनते ही) जन्मदात्री अदिति एवं पिता कश्यप को प्रणाम कर, महर्षियों वैखानसों मंत्रसिद्धों तथा विद्वज्जनों से परिगत शरीर वाले वामन प्रसन्नतापूर्वक भृगुकच्छ में हो रहे अश्वमेध यज्ञ के मण्डप की ओर चल पड़े।

प्रतिष्ठमाने किल वामनेऽनघेऽ
प्युभे प्रणष्टे युगपन्निराश्रिते ।
व्यथा च सा माघवनी विपच्छ्रया
बलेश्च सौभाग्यलिपिर्ललाटजा ।।१५।।

निष्पाप भगवान् वामन के प्रस्थान करते ही आश्रयविहीन होकर दोनों एक ही साथ प्रनष्ट हो गईं—एक तो मघवा (इन्द्र) की व्यथा और दूसरी, राजा बलि के ललाट पर लिखी (अब) विपत्तिग्रस्त (उनकी) भाग्यलिपि !

ववौ मरुद्गन्धवहो निरन्तरम्
अवारयन् धर्मचयं बलाहकाः ।
पथि व्रजन्तं तमनन्दयन्मुदा
घना वनाली सुमभारभङ्गुरा ।।१६।।

सुगन्ध का वहन करता हुआ पवन वहने लगा और बादलों ने धर्मसमूह (धूप) को छाया से निवारित कर दिया। मार्ग में पर्यटन करते हुए भगवान् वामन को, पुष्पभार से बोझिल सघन वनराजि ने उदारतापूर्वक आनन्दित कर दिया।

अपाययत्क्षीरमतीव वत्सला
नवप्रसूता हरिणी स्वपोतकम् ।
पथि क्वचिद्दक्षिणपार्श्वसंस्थिता
विलोलजिह्वा सुभगा पयस्विनी ।।१७।।

कहीं, मार्ग के दाहिने भाग में स्थित, चंचल जिह्वा वाली तथा क्षीर-भार-मंथरा सुन्दर नवप्रसूता अत्यन्त वत्सला हिरनी अपने शावक (छौने) को दूध पिलाने लगी ।

क्वचिद्बलाका निकषोपलेऽसिते
सुवर्णलेखेव मलीमसाम्बरे ।
समुत्पतन्ती तरसा दधद्रवा
शुभं निमित्तं प्रकटीचकार सा ।।१८।।

और कहीं पर, काले कसौटी के पत्थर पर सोने की लकीर के समान प्रतीत होने वाली, बकपंक्ति नीले आकाश में वेगपूर्वक उड़ती हुई तथा कलरव करती हुई शुभ शकुन प्रकट करने लगी ।

स्वकेलिमग्नो ददृशे पुनः पुनः
समक्षमेवोपरि नीलकण्ठकः ।
विहङ्गमः शम्भुसमत्वसूचको
महार्घनारायणमोदहेतुकः ।।१९।।

भगवान् नीलकण्ठ शिव के साम्य का सूचक तथा महामहिम भगवान् विष्णु की प्रसन्नता का कारणभूत, अपनी क्रीड़ा में मग्न नीलकण्ठ नामक पक्षी ऊपर आकाश में आँखों के सामने ही बार-बार दृष्टिगोचर होने लगा ।

जगौ कलं पञ्चमनादकोविदो
वनद्रुमाणां विटपेषु कोकिलः ।

निपानतीरस्थसरोजनिष्कुटे
स मल्लिकाक्षोऽपि तुतोष संगिनीम् ।।२०।।

पञ्चमनाद कोविद कोकिल अरण्य-वृक्षों की शाखाओं पर मनोरम कूजन करने लगा और सरोवर के तट पर विद्यमान कमलपुष्पों के कुन्ज में वह राजहंस भी प्रिया को (अपने व्यवहारों से) रिझाने लगा।

प्रभातकालोदयकन्रदीधिति-
र्निशापतिश्चाश्रितपश्चिमाचलः ।
स सम्मुखीनो विदधे सुमङ्गलं
वटोः प्रतीच्यां गमनं प्रकुर्वतः ।।२१।।

प्रभात-वेला का उदय होने के कारण कोमल किरणों वाले तथा अस्ताचल शिखर पर आरूढ़ एवं सम्मुख उपस्थित निशापति भगवान् चन्द्रदेव भी, पश्चिम दिशा में यात्रा करते हुए भगवान् वामन का शोभन मंगल प्रकट करने लगे।

क्रमेण यात्रां परिपूरयन्वटुः
पदैर्निजैः क्षिप्रतरैर्लघुक्रमैः ।
स नर्मदातीरपथेन पर्यटन्
ससार वैरोचनियज्ञमण्डपम् ।।२२।।

तीव्र गति तथा छोटे-छोटे डगों वाले अपने चरणों से क्रमशः यात्रापथ को पार करके, नर्मदातटवर्ती मार्ग से अग्रसर होते हुए वह वामन वटु विरोचनपुत्र बलि के यज्ञमण्डप की ओर चल पड़े।

शिलातलास्कन्दितमन्तरान्तरा
निपानकुल्यावनवाटिकायुतम् ।
अतीत्य मार्गं कतिभिर्दिनैरसौ
समाससादाथ मखस्थलं शुभम् ।।२३।।

बीच-बीच में (उभरे) शिलातलों से बाधायुक्त, सरोवर, कुल्या (नहर) वन तथा वाटिका से अलंकृत मार्ग को, कुछ ही दिनों में पार करके वह पवित्र मखभूमि में पहुँच गये।

ददर्श रेवोत्तरतीरसंस्थिते
पवित्रदेशे भृगुकच्छसंज्ञके।
महाश्वमेधं प्रथितं क्रतूत्तमं
बलिञ्च दैत्याधिपतिं रविप्रभम् ।।२४।।

(वहाँ उन्होंने) नर्मदा नदी के उत्तरी तट पर स्थित, भृगुकच्छ नामक पवित्र क्षेत्र में (सम्पाद्यमान) उत्तम क्रतु प्रख्यात अश्वमेध को तथा सूर्य के समान कान्तिमान् दैत्याधिराज बलि को देखा।

प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
हतत्विषो वामनतेजसा क्षणम्।
प्रविष्टमात्रं मखमण्डपेऽद्भुतं
वटुं समालोक्य विमूढतां ययुः ।।२५।।

उस श्रेष्ठ यज्ञ को सम्पन्न कराने वाले भृगुवंशी ऋत्विज भगवान् वामन की तेजस्विता से क्षण भर में ही निष्प्रभ हो उठे और यज्ञमण्डप में प्रविष्ट होते ही उस अद्भुत वटु को देखकर वे विमूढता को प्राप्त हो उठे।

विभावसुर्लोकतमोऽपहारकः
सनत्कुमारोऽप्यथवा महेश्वरः।
दिदृक्षयाऽऽयाति मखस्य कोन्विति
प्रमोहविद्धा दधिरे भृगूत्तमाः ।।२६।।

प्रमोह से बिंधे वे श्रेष्ठ भृगुवंशी ब्राह्मण मन ही मन सोचने लगे कि यज्ञ को देखने की इच्छा से आया हुआ यह है कौन ? संसार के अन्धकार को दूर करने वाले (साक्षात् भगवान्) सूर्य तो नहीं अथवा (शिशुरूपधारी) महेश्वर भगवान् सनत्कुमार तो नहीं ?

विघातशङ्काहतदीनमानसाः
प्रयाजका भार्गववंशभास्कराः ।
वदन्तु यावत्किल किञ्चिदीहितं
बलिः समुत्थाय ससार हर्षितः ।।२७।।

विघात की आशंका से आहत तथा दीन मनोवृत्ति वाले भार्गववंश-प्रकाशक वे ऋत्विज जब तक सोच-विचार कर कुछ कहें, उसके पूर्व ही हर्ष-विभोर हुआ वलि उठ खड़ा हुआ और (भगवान् वामन की अगवानी के लिये) आगे वढ़ा ।

युग्मकम्

कमण्डलुं पूर्णजलं सुमेखलां
पलाशदण्डं मृगचर्म चासितम् ।
मखोपवीतं जटिलां जटामपि
मधुस्मितं तं दधतं यथायथम् ।।२८।।

जल से परिपूर्ण कमण्डलु, रमणीय मौञ्जी मेखला, पलाशदण्ड, काला मृगचर्म, यज्ञोपवीत, परस्पर गुँथी हुई जटा तथा (अधर पर) समुचित मधुर मुस्कान धारण करने वाले उन भगवान् वामन को ।

विलोक्य सौन्दर्यविधानमद्भुतं
हृतान्तरालोऽपहृतात्मचेतनः ।
विमुग्धचित्तो दितिवंशभास्करो
जगाद वाणीं विनतां यशस्विनीम् ।।२९।।

तथा उनके विलक्षण सौन्दर्य-विधान को देखकर जिसका हृदय और आत्म-चेतना दोनों अपहृत हो उठे थे, विमुग्धचित्त ऐसे दितिवंश-भास्कर वलि ने विनम्र एवं यशस्विनी वाणी प्रकट की ।

अहो नु मे सम्प्रति सत्फलोदयः
क्रतूत्तमख्यातिसमृद्धिवैभवम् ।

अहो नु सौभाग्यपरम्परोदयो
भवादृशो देव ! यदत्र राजते ॥३०॥

आश्चर्य है कि मेरे सत्फलों का सम्प्रति उदय हो रहा है। मेरे श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ की कीर्ति, समृद्धि एवं विभुता प्रकट हो रही है। हे देव ! आप सरीखा (महामहिम) व्यक्ति यदि मेरे यज्ञवाट में विराजमान है तो यह मेरी सौभाग्य परम्परा का प्रारम्भ ही है।

नमोऽस्तु ते स्वागतमस्तु तावकम्
अलङ्कुरोत्वासनमत्र मण्डपे।
करोमि किन्ते रुचिरं समीहितं
वशंवदस्ते बलिरद्य सन्नतः ॥३१॥

आपको प्रणाम है। स्वागत है आपका ! इस यज्ञ-मण्डप में आप आसन ग्रहण करें। आपका कौन सा रुचिकर समीहित सम्पन्न करूँ ? आपका वशंवद बलि आज (सब कुछ करने के लिये) सन्नद्ध है।

इतीव वाक्यैर्ननु गद्गदाक्षरै-
रमोघभक्तिप्रचितैश्च वामनम्।
सभाजयित्वा मणिकाञ्चनासनं
ह्युपाहरद्दैत्यपतिर्वशङ्गतः ॥३२॥

गद्गद अक्षरों से बोझिल तथा अमोघ भक्तिभावना से संवलित ऐसे ही वाक्यों द्वारा भगवान् वामन का अभिनन्दन करके, उनके वशंवद दानवराज बलि ने मणि-खचित सौवर्ण आसन (बैठने के लिये) उपहृत किया।

समर्च्य तं वेदविधानसम्मतै-
र्यथायथं षोडशकोपचारणैः।
मुदाऽवनिज्याङ्घ्रियुगं मलापहं
प्रपूततोयं निजमूर्ध्नि सन्दधे ॥३३॥

वेदविधान-सम्मत षोडशोपचार द्वारा भगवान् वामन का यथोचित सत्कार कर बलि ने उनके पापनाशक चरणयुगल को प्रसन्नतापूर्वक प्रक्षालित कर, पवित्र जल को अपने मस्तक पर धारण कर लिया।

विलोक्य भक्तिं विमलामकृत्रिमां
महार्घनिष्ठाञ्च बलेर्मनस्विनः।
वशीकृतस्तस्य निसर्गसद्गुणै-
र्जगाम देवः परितोषविस्मयौ ॥३४॥

मनस्वी (दैत्यराज) बलि की निर्मल एवं स्वाभाविक भक्ति तथा महार्ध निष्ठा को देखकर, उसके नैसर्गिक गुणों से वशीभूत हुए भगवान् वामन परितोष एवं विस्मय से भर उठे।

अथाभिवन्द्य प्रचुरं तमागतं
महातिथिं दिव्यतनुं विभास्वरम्।
विनीतवाचा निजगाद सादरं
पुनर्बलिर्हार्दविलोलमानसः ॥३५॥

इसके अनन्तर, पधारे हुए दिव्यशरीरधारी, महातेजस्वी उन श्रेष्ठ पाहुन (भगवान् वामन) का प्रचुर स्वागत-सत्कार कर, प्रेम से आलोडित चित्तवृत्ति वाले बलि ने पुनः आदरपूर्वक विनत वाणी में कहा।

कुलं पवित्रं पितरश्च तोषिताः
क्रतूत्तमश्चापि बभूव सार्थकः।
गृहान् विभो! मे कृपया समागते
भवत्युदारेऽद्य न किं सुमङ्गलम् ॥३६॥

हे प्रभो! कृपापूर्वक आपके मेरे घर पधारने पर (मेरा) कुल पवित्र हो गया, पितृगण परितुष्ट हो गये और श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ भी सार्थक हो गया। आप जैसे उदारमना के आने से आज मेरा कौन सा शोभन मंगल नहीं सम्पन्न हुआ?

वसुन्धरेयं मम यज्ञधारिणी
प्रपूततोया तटिनी च नर्मदा ।
हविष्यमन्नं यजमानऋत्विजः
प्रजाश्च सर्वा भवता कृतार्थिताः ॥३७॥

मेरे यज्ञ को धारण करने वाली यह धरती, पवित्र जल वाली यह नर्मदा नदी, हविष्य अन्नराशि, यजनकर्म में निरत ऋत्विजगण तथा मेरी समस्त प्रजाएँ—(आज) आप द्वारा कृतकृत्य बना दी गईं ।

महाश्वमेधस्य फलं सविग्रहं
ह्युपस्थितं नाथ ! भवन्तमाश्रये ।
महार्घदानैः परितोष्य कांक्षितै-
स्ततोऽहमात्माभ्युदयं विवर्धिषुः ॥३८॥

हे प्रभो ! महान् अश्वमेध-यज्ञ के साकार फल के रूप में उपस्थित आपका मैं शरणागत हूँ । आपके मनोवांछित महामूल्यवान् दानों से आपको परितुष्ट करके ही मैं अपने अभ्युदय को बढ़ाने की इच्छा करता हूँ ।

दिदम्भिषा नात्र दिदेविषा प्रभो !
न चापि शुश्रावयिषा यशोऽर्थिनाम् ।
वदान्यचुच्यावयिषाऽपि नास्ति मे
निसर्गनिष्ठैव ममात्र कारणम् ॥३९॥

हे प्रभो ! आपको मनचाहा दान देने में न तो दम्भ-प्रदर्शन की इच्छा है न ही देदीप्यमान (प्रख्यात) होने की इच्छा । यश की कामना करने वाले लोगों जैसी (अपना यशोगान) सुनने की इच्छा भी नहीं है । मैं कह रहा हूँ प्रभो ! कि मेरी अच्युत होने की भी कामना नहीं है । वस्तुतः मेरी सहज निष्ठा ही इस दानकर्म में कारणभूत है ।

वटो भवन्तं मखभूमिमागतं
यतोऽर्थिनं सौम्यधियाऽनुतर्कये ।

ततस्सुपात्रं परितोष्य कांक्षितैः
क्षणं विधास्ये सफलं निजश्रमम् ॥४०॥

हे ब्रह्मचारिन् ! चूँकि मैं अपने यज्ञमण्डप में पधारे आपको, अपनी निश्छल बुद्धि से, याचक होने की सम्भावना कर रहा हूँ इसलिए आप जैसे सत्पात्र को अभीष्ट दानों से परितुष्ट करके निश्चय ही अपने परिश्रम को सार्थक बनाऊँगा ।

सवत्सधेनुं वसुधां प्रजावतीं
समृद्धहर्म्यं मणिरत्नसङ्कुलम् ।
अथान्यदाकांक्षितलोकवैभवं
प्रतीच्छ दास्यामि वटो ! यथेप्सितम् ॥४१॥

बछड़े सहित गाय, प्रजाजनों से परिपूर्ण पृथ्वी, मणियों तथा रत्नों से समृद्ध राजमहल अथवा अन्यान्य आकांक्षित सांसारिक वैभव—हे ब्रह्मचारिन् ! आप की जो इच्छा हो, माँग लीजिये । मैं दूँगा ।

स्रवन्मदाम्बुस्रुतियुद्धसिन्धुरान्
विचित्रपृष्ठास्तरणैर्विमण्डितान् ।
हयांश्च कम्बोजसुवीरदेशजान्
सुवर्णवल्गानथवा प्रतीच्छ मे ॥४२॥

अथवा, आप चाहें तो झरती हुई मदजल-धारा वाले जुझारू गजराजों को, रंग-विरंगी झूल से विभूषित तथा कम्बोज एवं सौवीर देश में उत्पन्न स्वर्णनिर्मित लगामों वाले अश्वों को माँग लें मुझसे ।

ध्रुवं कुमारोऽसि तथापि रोचते
ह्यनङ्गवल्लीप्रतिमा यदि प्रभो ।
शुचिस्मितां हृद्यगुणोच्चयाङ्गनां
सुलक्षणां तामपि दातुमुत्सहे ॥४३॥

आप निश्चय ही कुमार हैं फिर भी हे प्रभो ! यदि आपको रुचे तो कामरूपी लता की प्रतिमा जैसी, पवित्र मुस्कान वाली तथा मनोरम गुणसमूहों वाली कोई रमणी माँग लें, मैं उसे भी प्रदान करने को तत्पर हूँ।

अथास्ति ते शासनभारगर्विता
नृपासनेच्छा विषयाभिलाषिणी।
भण स्फुटं हन्त झटित्यधीश्वरं
करोमि संकल्पजलाभिषेचनैः ॥४४॥

और यदि, शासन-भार से गर्वित, विजय की अभिलाष रखने वाली नृपासन प्राप्त करने की आपकी इच्छा हो, तो स्पष्ट कहिये। मैं क्षण भर में ही संकल्प-जल के अभिषेचनों से आपको अधीश्वर बनाता हूँ।

यथा मृगाङ्कं प्रविलोक्य पार्वणं
प्रवलगते नीरनिधिश्चलज्जलः।
भवन्तमालोक्य तथैव मे मनो
महाप्रमोदोत्सवमेति बन्धुरम् ॥४५॥

जैसे पार्वण मृगाङ्क (पूनम के चाँद) को देखकर चंचल जलराशि वाला सागर उफनने लगता है आपको देखकर, ठीक उसी प्रकार, मेरा मन भी नतोन्नत महाप्रमोद के उछाह को प्राप्त कर रहा है।

कुतो न्विदं हर्षममत्ववैभवं
परोक्षरूपं मनसोऽप्यगोचरम् ?
कुतश्च ते पादसरोजमाधुरी-
ग्रहाभिलाषो मम देव ! वेद्मि नो ॥४६॥

हर्ष और ममत्व का यह वैभव कहाँ से फूट पड़ा है जो कि परोक्ष (रहस्यमय) रूप वाला तथा मन के लिये भी अगोचर है ? आपके चरणकमल की

मदिरा को ग्रहण करने की मेरी यह ललक क्यों उत्पन्न हो गई है? हे देव! मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

इति निवेदितसन्नतवाचिको
दितिकुलाम्बुजकाननभास्करः ।
बलिरसौ वटुमैक्षत वामनं
प्रतिवचश्श्रवणश्रुतिकाम्यया ॥४७॥

इस प्रकार विनत वचनों को निवेदित करके, दितिवंशरूपी कमलवन के भास्करस्वरूप दैत्यराज बलि ने, प्रत्युत्तर सुनने की आकांक्षा से भगवान् वामन की ओर निहारा।

बलिमुखे दिवसच्छविरुज्ज्वला
वटुमुखोपरि सान्ध्यविभाऽरुणा ।
भृगुमुखे च निशान्धतमस्तदा
युगपदेवमलोकि जनैः स्थितैः ॥४८॥

यज्ञमण्डप में स्थित जनसमूह ने उस समय बलि के मुखमण्डल पर अवदात दिवसच्छवि को, भगवान् वामन के मुख पर अरुणवर्णा सान्ध्यच्छवि को तथा भृगुवंशी ऋत्विजों के मुखों पर रात्रि जैसा सघन अन्धकार एक ही साथ देखा।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥४९॥

कवित्व के शिखरभूत मौक्तिक-शरीर वाले जिस पुत्र को वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी के समान अपनी कोख से, श्री दुर्गाप्रसाद के सहयोग से जन्म दिया, श्री देवेन्द्र एवं सुरेन्द्र के मध्य मणि के समान वही राजेन्द्र मिश्र अपनी हृदय-

परितुष्टि के लिये, संस्कृत भाषा में भगवान् वामन त्रिविक्रम का यशोगान कर.

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥५०॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, विल्हण की सूक्तियाँ जिसका पुष्प-समूह है और महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—निसर्गजात वह अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यद्रुम चिरजीवी हो ।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
बलिनिग्रहाभियानाभिधोऽष्टमः सर्गः ।

• •

# नवमः सर्गः

श्रुत्वा गिरं दैत्यपतेरनिन्द्यां
श्रद्धामयीं भक्तिमयीं प्रपन्नाम् ।
प्रोवाच मायाश्रितखर्वरूपः
श्रीवामनस्तं मृदुमञ्जुवाण्या ।।१।।

दैत्यपति बलि की श्रद्धायुक्त, भक्तिभावनापूर्ण, विनम्र तथा अनिन्दनीय वाणी को सुनकर, मायावश वामनरूप धारण करने वाले भगवान् उपेन्द्र ने कोमल एवं मञ्जु स्वर में कहा ।

वैरोचने ! सत्यमसि प्रभुस्त्वं
त्रैलोक्यसाम्राज्यपदाभिषिक्तः ।
राज्यं विशालं ननु यावदास्ते
राजंस्तवान्तःकरणं ततोऽपि ।।२।।

हे विरोचनपुत्र ! तुम सच्चे अर्थों में, त्रैलोक्य के साम्राज्यपद पर अभिषिक्त, स्वामी हो । साम्राज्य जितना विशाल है, हे राजन् ! तुम्हारा अन्तःकरण उससे भी अधिक (विशाल) है ।

मानार्थिनां सद्यशसां कुले त्वं
जातोऽसि निश्चप्रचमूर्ध्वकीर्त्तिः ।
वज्राकरे जायत एव वज्रं
लौहागमस्यास्ति न तत्र शङ्का ।।३।।

निश्चय ही विपुल कीर्तिभाजन तुम, श्रेष्ठ यश वाले मानार्थियों के वंश में उत्पन्न हुए हो । हीरे की खान में हीरा ही पैदा होता है । उसमें भला लोहे के पैदा होने की क्या सम्भावना ?

प्रह्लादपौत्रोऽसि भुवोऽन्तराले
कीर्तिर्यदीयाऽहमिति तनोति ।
पूतात्मनां सात्त्वतधर्मभाजा-
मद्यापि राजन् श्रितरम्यगाथा ॥४॥

तुम (उन) प्रह्लाद के पौत्र हो जिनकी कीर्ति भूमण्डल में अहमिति (स्वाभिमान) का विस्तार करती है। पवित्र आत्मा वाले तथा सात्त्वत धर्म का पालन करने वाले जिन प्रह्लाद की कीर्ति हे राजन् ! आज भी रम्य गाथाओं से भरी-पुरी है।

निष्ठां यदीयां परिपातुकामो
रूपं नृसिंहं श्रितवान् मुरारिः ।
स्तम्भं समुत्पाट्य विपाट्य शत्रुं
भक्तञ्च भक्तिञ्च ररक्ष साधु ॥५॥

जिनकी भगवन्निष्ठा को अक्षत रखने की कामना से भगवान् ने नृसिंह-रूप धारण किया था। स्तम्भ को विदारित करके तथा शत्रु (हिरण्यकशिपु) को मारकर उन्होंने भक्त (प्रह्लाद) तथा भक्ति की सम्यक् रूप से रक्षा की थी।

धुर्यो महाभागवतव्रजाणां
विष्णुप्रियो विष्णुमयस्स जिष्णुः ।
अद्यापि लोकेऽक्षतकीर्तिवल्ली
नो गीयते किं कविभिर्नितान्तम् ॥६॥

महाभागवतों की मण्डली में अग्रगण्य, विजयशील जो (प्रह्लाद) विष्णुप्रिय तथा विष्णुमय थे, जिनकी अक्षत कीर्तिलता क्या आज भी कवियों द्वारा इस संसार में, निरन्तर नहीं गाई जाती है ?

प्रादान्निजं यः सुरसंघयाच्ञा-
सम्भावितो दुस्त्यजमायुरेव ।

केषां न वन्द्योऽस्ति विरोचनोऽसौ
मान्यः पिता ते महिताग्रगण्यः ॥७॥

देवसमूह की याचना से सम्भावित जिन्होंने अपनी दुस्त्यज आयु को ही दान में दे दिया था, पूजनीयों में अग्रगण्य तुम्हारे माननीय पिताश्री वह विरोचन भला किसके लिये वन्दनीय नहीं हैं ?

विष्णोः सपत्नत्वमुभौ प्रवीरौ
कामं गतौ तौ प्रपितामहौ ते ।
देवर्षिशापप्रतिकारबुद्ध्या
सत्कर्मसिद्धावपि भिन्नवृत्तौ ॥८॥

देवर्षि (सनकादि) के शाप के प्रतीकारवश सत्कर्ममण्डित होते हुए भी जो विपरीत आचरण वाले हो उठे थे, ऐसे श्रेष्ठ वीर, तुम्हारे वे दोनों प्रपितामह (हिरण्यकशिपु एवं हिरण्याक्ष) भले ही नारायण से शत्रुता करने लगे हों ।

शौर्यं त्रिलोक्यामुभयोस्तथापि
ख्यातं बभूवामरसंघजैत्रम् ।
लिलाय हेमाचलगह्वरेषु
दम्भोलिदम्भः स्वजनैः सहेन्द्रः ॥९॥

फिर भी, देवसमूह पर विजय प्राप्त करने वाला उन दोनों का शौर्य तीनों लोकों में प्रसिद्ध था (जिसके कारण) वज्र पर अभिमान करने वाला इन्द्र, स्वजनों के साथ सुमेरु पर्वत की गुफाओं में जा छिपा था ।

उद्यद्गदो नैव युयुत्सुवीरं
योग्यं हिरण्याक्ष इभेन्द्रमत्तः ।
नक्तन्दिवञ्चापि चरन् पृथिव्याम्
अविन्दतोत्तापभरैर्विषण्णः ॥१०॥

गजराज के समान मदमत्त (हाथ में) गदा ऊपर उठाए हुए तथा भूमण्डल में रात-दिन सञ्चरण करते हुए भी उस हिरण्याक्ष ने (जब) अपने योग्य युद्ध करने को इच्छुक वीर नहीं पाया (तब) सन्ताप के भार से व्यथित हो उठा ।

कृच्छ्रेण जित्वापि तमाजिभूमौ
तद्वीर्यसंस्मृत्यतिवेपिताङ्गः ।
विष्णुर्न मेने जयिनं स्वमद्धा
बद्धादरस्तस्य दुरन्तशक्तौ ।।११।।

युद्धभूमि में, कठिनाई से उसे जीत कर भी, उसके शौर्य-पराक्रम की स्मृति मात्र से कम्पित अंग वाले विष्णु ने, उसकी दुरन्त शक्ति के प्रति आदर-भाव रखते हुए, सचमुच स्वयं को विजयी नहीं स्वीकार किया ।

सोदर्यहन्तारमथ प्रणष्टुं
दृष्टवाऽग्रजं दारुणशूलपाणिम् ।
क्रोधोद्धुरं सम्मुखमापतन्तं
विष्णोरपि प्राणभयं बभूव ।।१२।।

तदनन्तर, सहोदर (हिरण्याक्ष) के विनाशक विष्णु को नष्ट कर देने के लिये, हाथ में भयावह शूल लेकर सम्मुख आते हुए, क्रोध में डूबे उसके अग्रज हिरण्यकशिपु को देखकर, विष्णु को भी अपने प्राणों का भय हो गया था ।

वैकुण्ठलोकं तमवेत्य कुण्ठं
रक्षाऽसमर्थं रिपुबाहुबद्धम् ।
लक्ष्मीपतिश्चिन्तितवान्निकामं
रक्षाविधानं ननु गूढगूढम् ।।१३।।

अपने उस वैकुण्ठलोक को शत्रु के अधिकार में स्थित, रक्षा कर पाने में असमर्थ तथा निरर्थक समझ कर लक्ष्मीपति विष्णु ने अत्यधिक रहस्यमय (अपनी) रक्षा का उपाय भलीभाँति सोचा ।

ब्रह्माण्डतल्पे निखिलेऽपि नूनं
ज्ञेये सुखं मे भविता न गुप्तिः ।
चित्ते प्रवेक्ष्यामि ततोऽस्य सोऽहं
ज्ञातुं समर्थो भवतान्न येन ॥१४॥

'जान लेने योग्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-विस्तार में तो निश्चय ही सरलतापूर्वक मेरी रक्षा नहीं हो सकेगी इसलिये मैं उस (हिरण्यकशिपु) के हृदय में प्रवेश कर जाऊँगा ताकि वह मुझे (अन्यत्र) खोज पाने में समर्थ न हो ।'

संकल्प्य विष्णुर्मनसीत्थमाशु
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेहः ।
शत्रोर्हृदि प्राविशदमेयशक्तिः
संरक्षितश्चापि बभूव सम्यक् ॥१५॥

शीघ्रतापूर्वक मन में ऐसा संकल्प करके (हिरण्यकशिपु की) श्वासवायु में तिरोहित सूक्ष्म शरीर वाले अप्रमेय सामर्थ्य से युक्त भगवान् विष्णु शत्रु के हृदय में प्रविष्ट हो गये तथा सम्यक् रूप से सुरक्षित भी हो गये ।

शौर्येण राजन् प्रपितामहौ ते
श्रद्धेयभक्त्या च पितामहोऽसौ ।
दुश्चिन्त्यदानैश्च वदान्यधुर्य-
स्तातोऽपि कीर्तिं विमलामवापुः ॥१६॥

हे राजन् ! तुम्हारे दोनों प्रपितामह (अपने) शौर्य से, और वह तुम्हारे पितामह (अपनी) श्रद्धापूर्ण भक्ति से तथा दानियों में शिरोमणि तुम्हारे पिता (अपने) विलक्षण दानों द्वारा विमल कीर्ति के पात्र बने ।

तस्मिन्कुले दिव्यपुराणगाथे
जातो यदि त्वं परितोषितुं माम् ।

बद्धादरस्तर्हि किमत्र चित्रं
न ध्वांक्षलीलां प्रतनोति हंसः ।।१७।।

दिव्य इतिहास वाले उसी वंश में यदि मुझे परितुष्ट करने के लिये मेरे प्रति श्रद्धालु तुम पैदा हुए हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? राजहंस कौवे जैसा आचरण नहीं प्रदर्शित करता ।

लघ्वीमतः स्वीयनिसर्गयाच्ञां
प्रस्तूय वक्ष्यामि मनोऽभिलाषम् ।
तृप्तिर्यथा मे न तवापि कष्टं
ह्लादातृदात्रिष्टिकरं सुदानम् ।।१८।।

अतएव, अपनी (एक) सहज छोटी सी याचना को प्रस्तुत करके मैं अपना मनोऽभिलाष कहूँगा । ताकि मेरी तुष्टि भी हो जाय और आपको कष्ट भी न हो । क्योंकि श्रेष्ठ दान वही होता है जो दाता एवं ग्रहीता (दोनों) के लिये आह्लाद-कर हो ।

राज्ये विशाले तुरगे गजे वा
हर्म्ये मणिस्तम्भमये समृद्धे ।
एणीदृशाञ्चारुचयेऽपि राजन्
लोभो न मे तोषधनस्य किञ्चित् ।।१९।।

हे राजन् ! सन्तोष मात्र सम्पत्ति वाले मुझ जैसे व्यक्ति की विशाल साम्राज्य, अश्व, गज, मणिस्तम्भों से युक्त, समृद्ध राजप्रासाद तथा मृगलोचनाओं के रमणीय समूह में भी तनिक (भी) लालच नहीं है ।

त्वत्तो महीमात्मपदप्रमाणां
त्रैविक्रमीमेव ततः प्रयाचे ।
दत्वा नु मे तां त्रिपदां धरित्रीं
कीर्तिं लभस्वेह परत्र चोर्ध्वाम् ।।२०।।

इसलिये मैं आपसे, अपने ही पैरों से नापी गई मात्र तीन डग धरती की याचना करता हूँ। उस तीन डग पृथ्वी को मुझे प्रदान कर आप इस संसार में तथा परलोक में भी महान् यश के भागी बनें।

याच्ञा न मे दीर्घतरा शरीरात्
देहोऽपि नो दीर्घतरोऽभिलाषात्।
औचित्यमेवोद्वहते नृपेन्द्र !
तस्माद्द्वयोः सङ्गतसौमनस्यम् ।।२१।।

मेरी याचना शरार-सम्पत्ति से बड़ी नहीं है और मेरी देह भी मेरी आकांक्षा से अधिक बड़ी नहीं है। इस प्रकार हे राजेन्द्र ! (शरीर तथा याचना) दोनों का समुचित सौमनस्य औचित्य का ही पोषण कर रहा है।

श्रुत्वा विचित्रामुपहासयोग्यां
याच्ञां वटोस्तत्त्वपदानभिज्ञः।
उच्चैर्हसन्नाह बलिर्विभासि
नो बालमात्रं ननु बालिशोऽपि ।।२२।।

वटु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बलि ने (उसकी) उपहासयोग्य, विचित्र याचना को सुनकर अट्टहास करते हुए कहा—'तुम केवल शिशु ही नहीं, बुद्धिहीन भी प्रतीत हो रहे हो।'

सिन्धुं समेत्यापि जलं ग्रहीतुं
वाञ्छस्यहो त्र्यञ्जलिमात्रमेव।
कल्पद्रुमं त्रीणि सुमानि यद्वा
त्वं याचसे वाञ्छितदानसिद्धम् ।।२३।।

जल प्राप्त करने के लिये, सागर के पास पहुँच कर भी तुम मात्र तीन अँजुरी पानी चाहते हो ? अथवा मनोवांछित दान देने में समर्थ कल्पवृक्ष से तुम मानो मात्र तीन फूल भर माँग रहे हो ? आश्चर्य है !!

किन्तेन दानेन सकृद्यदाप्य
दानाग्रहः स्यादवशिष्ट एव ।
दाता ग्रहीताऽथ च देयमित्थं
सर्वाणि कौलीनकलङ्कभाञ्जि ।।२४।।

उस दान से भला क्या लाभ, जिसे एक बार प्राप्त करके भी दान का आग्रह बना रह जाय ? इस प्रकार तो दाता, ग्रहीता तथा दान—सबके सब लोकनिन्दा के कलंक से युक्त हुए ।

सम्प्राप्तसह्याचलसङ्गमानां
पाटीरखण्डस्य भवेदपेक्षा ।
श्रद्धेयमेतन्न च शंसनीयं
दानं नु वाञ्छान्तकरं प्रशस्तम् ।।२५।।

मलयपर्वत का साहचर्य प्राप्त करने वाले लोग भी चन्दन के टुकड़े भर की अपेक्षा करें, यह न तो श्रद्धा करने योग्य है न ही प्रशंसा योग्य ! क्योंकि दान तो वही प्रशस्त होता है जो याचना को ही समाप्त कर दे ।

ब्रह्मन् ! समाराध्य वचोभिरेवं
वैशारदीमण्डितदेशनाभिः ।
एकातपत्रं त्रिजगत्प्रभुं मां
संयाचसे किं त्रिपदां धरित्रीम् ।।२६।।

हे ब्रह्मन् ! विद्वत्ता से विभूषित सदुपदेशों तथा वाग्विलासों से मुझे प्रसन्न करके आप मुझ जैसे सार्वभौम त्रैलोक्याधिपति से तीन डग पृथ्वी (मात्र) क्यों माँग रहे हैं ?

मा याहि संकोचमतो नु वच्मि
स्वान्ते च शङ्कामपि मा कृथास्त्वम् ।

प्राज्यां भुवं वृत्तिकरीं प्रतीच्छ
सम्प्रस्तुतोऽहं वटुरत्न ! दातुम् !!२७।।

अतएव मैं निवेदन कर रहा हूँ कि आप संकोच न करें और मन में, (कोई) शंका भी न करें। पालन-पोषण योग्य प्रभूत पृथ्वी माँग लीजिये। हे वटुश्रेष्ठ ! मैं देने को तत्पर हूँ।

वैरोचनिं ह्यार्जवशीलयुक्तं
स्वैश्वर्यविज्ञानरहस्यशून्यम् ।
संलक्ष्य मायावटुराह भूयः
साकूतवाचं विमदं विधातुम् ।।२८।।

आर्जव तथा सदाचार से युक्त विरोचनपुत्र बलि को, अपने ऐश्वर्य-विज्ञान के रहस्य से शून्य (अनभिज्ञ) देखकर, उसे गर्वरहित बनाने के लिये मायावी वटुरूप धारण करने वाले भगवान् वामन ने पुनः साभिप्राय वचन कहे।

वैरोचने ! देव वदान्यधुर्य !
श्रद्धा सदा स्याज्जयिनी तवेयम् ।
नाहं वृणे किन्तु पदत्रयोर्ध्वां
भूमिं प्रभो ! स्वीयगतिव्यपेताम् ।।२९।।

हे वदान्यशिरोमणि महाराज बलि ! आपकी यह श्रद्धा सदैव उत्कर्ष प्राप्त करे। परन्तु हे राजन् ! मैं अपनी सामर्थ्य से परे, तीन डग से अधिक पृथ्वी की याचना नहीं करता।

त्रैलोक्यसाम्राज्यमपीन्द्रियाणां
लालाटिकं तोषयितुं प्रकामम् !
शक्नोति नो दैत्यपते ! ततोऽहं
सौख्यं नु मन्ये परितोषमूलम् ।।३०।।

इन्द्रियों के वशीभूत व्यक्ति को तो त्रैलोक्य का साम्राज्य भी पूर्णतः परितुष्ट नहीं कर सकता। इसलिये हे दैत्यपते! मैं तो सन्तुष्टि मात्र को ही सुख मानता हूँ।

पादैस्त्रिभिः प्राप्य मितां धरित्रीं
यो ब्राह्मणस्तुष्यति नैव शान्तः।
द्वीपैश्च वर्षैश्च भुवः समग्रै-
र्दत्तैरपि स्यात्क्व नु तस्य तुष्टिः??३१॥

जो शान्त ब्राह्मण तीन डगों से नापी गई पृथ्वी को प्राप्त करके भी सन्तुष्ट नहीं होता भला उसकी सन्तुष्टि पृथ्वी के समस्त राष्ट्रों तथा द्वीपों को दे देने से भी कहाँ सम्भव है?

सन्तुष्ट आत्मन्यपि सौख्यमेति
प्राणी यदृच्छोपगतेन राजन्!
लोकैस्त्रिभिश्चापि न तुष्टिमेति
स्वात्मन्यसन्तोषयुतः परन्तु॥३२॥

जो प्राणी स्वयं में भी परितुष्ट है, हे राजन्! वह यावत् किञ्चित् पा लेने से भी सुखी हो जाता है। परन्तु जो स्वयं में असन्तोषयुक्त है वह तीनों लोकों (की प्राप्ति) से भी तुष्टि नहीं प्राप्त कर पाता।

अर्थस्य कामस्य च भूर्यतुष्टिः
संसारहेतुर्ध्रुवमेव पुंसाम्।
सन्तोष एवास्ति परन्तु राजन्
मूलं विमुक्तेर्विबुधाः प्रमाणम्॥३३॥

अर्थ तथा कामविषयक अतिशय असन्तुष्टि ही, निश्चित रूप से, मनुष्यों के संसरण (जन्म-मृत्यु) का कारण है। परन्तु हे राजन्! सन्तोष ही मुक्ति का हेतु है। इस विषय में विद्वज्जन ही प्रमाण हैं।

तस्मादहं स्वीयतनुप्रमाणं
दानं वृणे भूमिपदं त्रिपादम् ।
तृष्णा न मे दैत्यपतेऽधिके च,
स्वस्त्यस्तु ते देहि तदेव मह्यम् ॥३४॥

इसलिये मैं अपने शरीर के प्रमाणानुरूप, तीन ही डग के बराबर भूमि की मात्रा का दान माँगता हूँ । हे दैत्यपते ! उससे अधिक में मेरी तृष्णा नहीं है । मुझे वही प्रदान करें । कल्याण हो आपका !

दृष्ट्वा वटोर्दृढमतिं प्रहसन्नुदार-
स्तद्वैखरीवशितचित्तसमस्तवृत्तिः ।
वैरोचनिः प्रमुदितोऽभ्युदितः प्रदातुम्
ओमित्युदीर्य धरणीं त्रिपदप्रमाणाम् ॥३५॥

वामन की दृढ़ बुद्धि को देखकर, उनकी वाणी से वशीकृत समस्त चित्तवृत्ति वाले, उदार विरोचनपुत्र (बलि) प्रमुदित होकर हँसते हुए 'एवमस्तु' कहकर, तीन डग के बराबर पृथ्वी देने के लिये तैयार हो गये ।

जग्राह मुग्धमनसा स यदा सतोयं
कुम्भं सुवर्णघटितं वसुधां प्रदातुम् ।
वाचस्तदा नु जय जीव नृपेतिभावाः
प्रोच्चारिता हयमखाङ्गणभूरिलोकैः ॥३६॥

जब उन्होंने आह्लादित मन से, पृथ्वी प्रदान करने के लिये (संकल्पार्थ) जल से परिपूर्ण सुवर्ण कलश को ग्रहण किया तब अश्वमेध यज्ञ के वाट में उपस्थित असंख्य लोगों द्वारा 'महाराज की जय हो । महाराज चिरजीवी हो !' इस प्रकार के वचन उच्चारित किये गये ।

लाजाक्षतान् प्रववृषुः परितोऽपि कन्या
लावण्यपूरनिवहैः किल राजमानाः ।

माङ्गल्यभावभरितानि कलं जगुस्ताः
गीतानि दैत्यपतिवंशपराणि नार्यः ॥३७॥

लावण्य-प्रवाह के समूह से श्रीमण्डित कुमारी कन्याएँ चारों ओर से लाजा (खील) तथा अक्षत बरसाने लगीं तथा रमणियाँ मंगलभाव से ओतप्रोत तथा दैत्यपति (बलि) की वंशकीर्ति से सम्बद्ध गीत, मधुर स्वर में गाने लगीं।

निस्सैन्यलोकविजयोऽक्षतकीर्तिहेतु-
र्निस्सोमपानसुरलोकसुखाधिकारः ।
निर्वन्दिचारणमुखस्वरकीर्तिगानं
दानं प्रदत्तमिह पात्रवराय सम्यक् ॥३८॥

इस संसार में, श्रेष्ठपात्र को सम्यक् रूप से दिया गया दान सैन्य-विहीन दिग्विजय है, सोमपान के विना ही प्राप्त देवलोकाधिकार है, बन्दियों तथा चारणों के मुँह से निकले स्वर से रहित यशोगान है, तथा अक्षय कीर्ति का हेतु है।

युग्मकम्

अर्थिनो लघुतां प्रेक्ष्य वाञ्छाया वपुषोऽपि च ।
दातुश्च गुरुतां दाने विग्रहेऽपि महीयसीम् ॥३९॥

याचक (भगवान् वामन) की आकांक्षा तथा देह की लघुता को तथा दाता (बलि) की दान एवं शरीर-विषयक महीयसी गुरुता को देखकर।

विस्मिता मुदिताः सर्वे कौतुकेन वशीकृताः ।
जाता हतप्रभा नूनं परिणामदिदृक्षया ॥४०॥

कुतूहल से वशीभूत किये गये, विस्मित एवं आह्लादित सबके सब निश्चय ही, परिणाम देखने की उत्कण्ठावश हतप्रभ हो उठे।

यथा कौतूहलाक्रान्त इन्द्रजालचिकीर्षितम् ।
वेत्ति किञ्चिन्न लोकोऽयं धृतरोमाञ्चविस्तरम् ॥४१॥

जैसे कौतूहल से आक्रान्त तथा अंग-प्रत्यंग पुलकित जनसमूह (दर्शक) इन्द्रजाल की माया को कुछ भी नहीं समझ पाता ।

यज्ञवाटसमासीनो लोकस्तद्वद्धि विस्मितः ।
भाविवृत्तदिदृक्षोत्को जातो मोदविसंष्ठुलः ।।४२।।

ठीक उसी प्रकार यज्ञमण्डप में समासीन, आह्लाद से ओतप्रोत विस्मित जनसमूह, अगली घटना को देखने की आकांक्षा से उत्कण्ठित हो उठा ।

त्रिपदां धरणीं प्राप्य किं करिष्यति वामनः ?
एवमादि वितन्वानास्तस्थुः कुण्ठधियो जनाः ।।४३।।

तीन डग के बराबर पृथ्वी को लेकर भला यह बौना करेगा क्या ? कुछ कुण्ठित बुद्धि वाले लोग इस प्रकार की बातें करते बैठे रहे ।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादाह्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ।।४४।।

वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी जैसी अपनी कोख में मोती जैसे व्यक्तित्व वाले, कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद (के अंश) से जन्म दिया—देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के मध्य मणि के समान वही राजेन्द्रमिश्र अपनी हृत्तुष्टि के लिये, देववाणी के माध्यम से भगवान् त्रिविक्रम के निष्पाप यश का गायन कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।

श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥४५॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, विल्हण के सुभाषित पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा जिसका पवित्र फल है—वह निसर्गजात अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यवृक्ष चिरजीवी हो।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
त्रिपदोर्वीयाच्ञाभिधो नवमः सर्गः।

● ●

# दशमः सर्गः

समालोक्य शिष्यं बलिं वञ्च्यमानं
महाविष्णुना वामनेन प्रकामम् ।
कविर्भार्गवो वंशपूज्योऽसुराणां
जगादाखिलज्ञो बलिं दित्समानम् ।।१।।

महाविष्णु वामन द्वारा अपने शिष्य-प्रवर को भरपूर वञ्चित किया जाता देखकर, असुरों के कुलपूज्य गुरु, सर्वज्ञ, भृगुवंशी शुक्राचार्य ने दान देने को इच्छुक बलि से कहा ।

महान् संकटोपक्रमोऽद्य त्वदीये
समालक्ष्यते वाजिमेधेऽध्वरेऽयम् ।
ध्रुवं वत्स वैरोचने ! प्रत्यवायो
न यस्मान्निवृत्तिस्तवालक्ष्यते मे ।।२।।

हे वत्स वैरोचनि ! आज तुम्हारे अश्वमेघ यज्ञ मे यह महान् प्रत्यवाय तथा संकट का उपक्रम दिखाई पड़ रहा है जिससे तुम्हारी मुक्ति मै नहीं देख पा रहा हूँ ।

न जानासि तत्त्वं परं गुह्यरूपं
विपश्चिद्भिरप्यात्मविद्भिर्विदूरम् ।
अहो स्प्रष्टुमाकांक्षसि स्वर्णबुद्ध्या
यदङ्गाङ्गदाहक्षमं वह्निपिण्डम् ।।३।।

आत्मज्ञानी विद्वज्जनों की भी बुद्धि से परे, रहस्यमय रूप वाले श्रेष्ठ (परमात्म) तत्त्व को तुम नहीं जानते । आश्चर्य है प्रियवर ! कि अंगों को दग्ध कर देने में समर्थ अग्निपिण्ड को तुम सुवर्ण मानकर छूना चाह रहे हो ?

अयं वामनो वत्स ! साक्षान्मुरारि-
श्चिकीर्षुः सुराकांक्षितं भूरिभाग्यम् ।
धराधाम्नि नूनं सुखायावतीर्णः
अदित्यङ्कजः कश्यपानन्ददाता ॥४॥

हे वत्स ! यह वामन वटु, जो कि साक्षात्-भगवान् विष्णु हैं, प्रभूत सौभाग्ययुक्त देवताओं का आकांक्षित सिद्ध करने के उद्देश्य से धरा-धाम पर, निश्चय ही स्वेच्छया अवतीर्ण हुए हैं। यह देवी अदिति के पुत्र तथा (अपने पिता) कश्यप को आनन्द प्रदान करने वाले हैं।

श्रियं वैभवं राज्यमैश्वर्यमिद्धं
तवाहृत्य मायानटोऽयं परेशः ।
निमेषैरहोऽकिञ्चनं त्वां विधाय
प्रदास्यत्ययं सर्वमेवामरेभ्यः ॥५॥

अपनी माया से ही लीला करने वाले यह परमेश्वर विष्णु तुम्हारे वैभव, साम्राज्य, समृद्ध ऐश्वर्य तथा राज्यश्री को कुछ ही क्षणो में छीन कर तथा तुम्हें अकिञ्चन वना कर, सब कुछ देवताओं को वितरित कर देंगे।

समग्रा त्रिलोकी यदिच्छानुकूलं
स्फुरन्नेत्रकोणप्रभङ्गैर्नितान्तम् ।
क्वचित्स्थाप्यतेऽपोह्यते लीलयैव
प्रविद्ध्यागतं विष्णुमेव त्वमेनम् ॥६॥

सारी त्रिलोकी जिसकी इच्छा के अनुसार, देदीप्यमान नेत्रकोणों के संकेत से, निरन्तर खेल-खेल में ही कभी उत्पन्न तो कभी अन्तर्हित (विनष्ट) होती रहती है— इस वटु को तुम, उपस्थित हुआ वही विष्णु समझो।

पुरा देवदैत्यैस्समं मथ्यमाने
पयस्सागरे मन्दरोन्मन्थदण्डैः ।

अयं कश्यपीभूय पृष्ठाधिरूढं
ह्युवाहाचलं पृष्ठकण्डूतिपथ्यम् ॥७॥

प्राचीन काल में, मन्दराचल को मथानी बनाकर देवताओं तथा दानवों द्वारा एक ही साथ, क्षीरसागर का मंथन किए जाने पर इसी विष्णु ने पीठ की खुजलाहट के लिए औषधि के समान, पीठ पर स्थापित किये गये पर्वत को कूर्म रूप धारण कर वहन किया था।

ततश्चापि नैमित्तिके सृष्टिनाशे
महाम्भोधिपाथोऽवमग्ने त्रिलोके।
महामत्स्यतामेत्य सत्यव्रताख्यं
ररक्षायमोघे विवस्वत्तनूजम् ॥८॥

उसके अनन्तर भी नैमित्तिक सृष्टिनाश (खण्ड-प्रलय) के अवसर पर, त्रैलोक्य के महासिन्धु के जल में निमग्न हो जाने पर महामत्स्य का रूप धारण कर (इसी विष्णु ने) महाप्लावन में, सत्यव्रत नामक विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र की रक्षा की थी।

हिरण्याक्षमुग्रं भवत्पूर्ववंश्यं
प्रसह्याखिलां मेदिनीं लीढवन्तम्।
अयं देवकल्याणसिद्ध्यै महाजौ
महादंष्ट्रवाराहकायो जघान ॥९॥

बलपूर्वक सम्पूर्ण पृथ्वी को निगीर्ण कर लेने वाले तुम्हारे पितामह महाबली हिरण्याक्ष को इसी विष्णु ने, विशाल दाढ़ों से युक्त वराह-रूप धारण कर महासमर में देवताओं की कल्याण-सिद्धि के लिये मार डाला था।

दितेर्ज्येष्ठपुत्रं हिरण्याक्षबन्धुं
नृसिंहावतारस्ततो दानवेन्द्रम्।

नखैश्चस्करे बद्धवैरं ततोऽयं
स्मरामृद्य सर्वं पुराकल्पजातम् ॥१०॥

उसके अनन्तर इस विष्णु ने हिरण्याक्ष के भाई तथा दिति के ज्येष्ठ पुत्र दानवराज (हिरण्यकशिपु) को वैर बांधकर नृसिंह रूप धारण कर नाखूनों से चीर डाला था। प्राचीन काल में घटित सब कुछ मैं आज स्मरण कर रहा हूँ।

अहो वामनीभूय सोऽयं पुनस्ते
महैश्वर्यनाशाय यज्ञं प्रपन्नः।
अतो वच्मि वत्स ! प्रमादो न कार्यो
न देया धरित्री त्रिपादप्रमाणा ॥११॥

आश्चर्य है कि यहीं विष्णु पुनः वामन रूप धारण कर तुम्हारे महान् ऐश्वर्य का नाश करने के लिए, यज्ञमण्डप में उपस्थित है। इसलिए वत्स ! सावधान कर रहा हूँ। प्रमाद मत करो ! तीन डग पृथ्वी देने योग्य नहीं है।

त्वया चात्र संकल्पिते भूमिदाने
तनूं भूरि बंहीयसीमेत्य सोऽयम्।
शरीरेण खं मेदिनीञ्चान्तरिक्षं
पदाभ्यामुभाभ्यां सुखं मास्यतीति ॥१२॥

इस यज्ञमण्डप मे तुम्हारे द्वारा भूमिदान की संकल्पना कर लेने पर यह महाविष्णु शरीर को अतिशय विशाल बना कर, शरीर से आकाश को तथा दोनों पदन्यासों से पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को बड़ी सरलता से नाप लेंगे।

तृतीयाङ्घ्रिणा मीयमानावकाशं
न सम्प्राप्य संकल्पदुष्टं भवन्तम्।
ध्रुवं निग्रहीष्यत्ययं चाधमर्णं
वटुर्निग्रहस्थानसिद्धिप्रवीणः ॥१३॥

निग्रहस्थान की सिद्धि में चतुर यह वामन (तब) तीसरे पदन्यास (डग) द्वारा नापने योग्य स्थान न पाकर, दूषित संकल्प वाले तथा अधमर्ण (कर्जदार) आपको निश्चित रूप से बाँध लेंगे ।

गुरुस्ते शुभैषी त्रिकालप्रविज्ञ-
स्त्रयीधर्मनीतिस्वरूपानुविष्टः ।
अतो निर्दिशाम्यत्र ते क्षेमयोगौ
न भूदानसंकल्प एषोऽनुसार्यः ॥१४॥

मैं तुम्हारा शुभाकांक्षी गुरु हूँ । त्रिकालदर्शी तथा वेद-धर्म एवं नीति के रहस्य का ज्ञाता हूँ । इसलिए, इस अवसर पर तुम्हारे योग एवं क्षेम का निर्देश कर रहा हूँ । भूदान का यह संकल्प सम्पादन-योग्य नहीं ।

ऋतं सत्यमोमुच्यते यन्नु विज्ञै-
र्नकारोऽनृतं नातिभिन्नेऽप्युभे द्वे ।
ऋतं ह्यात्मवृक्षस्य पुष्पं फलं वाऽ
नृतं किन्तु मूलं शरीरस्य विद्धि ॥१५॥

यह सच है कि विद्वानों द्वारा 'ओम्' (हाँ) को ऋत तथा 'नकार' को अनृत कहा गया है तथापि वे दोनों बहुत भिन्न नहीं हैं । ऋत आत्मारूपी वृक्ष का फूल अथवा फल है । परन्तु अनृत को शरीर की जड़ समझो ।

यथोन्मूलितः शुष्यति द्रुर्निकामं
मनुष्यस्तथा वत्स ! नष्टाऽनृतो यः ।
ततो रिक्तमाहुर्बुधा ओमपूर्णं
समुच्चार्य यद् रिच्यते सर्वलोकः ॥१६॥

जैसे जड़ से उखाड़ा गया वृक्ष एकदम सूख जाता हैं हे वत्स ! उसी प्रकार अनृत-विहीन मनुष्य भी नष्ट हो जाता है । इसलिए विद्वज्जनों ने ओम् को रिक्त

तथा अपूर्ण कहा है क्योंकि 'ओम्' का उच्चारण करके (अर्थात् हाँ करके) सारा संसार (देय वस्तु से) रिक्त हो जाता है।

ध्रुवं पूर्णताहेतुरास्तेऽनृतं तद्
विशेषेण दुस्संकटेऽनिष्टकाले।
असत्यं प्रभो! रक्षितं सत्प्रयत्नैः
स्वयं रक्षति प्राणिनं स्वावलम्बम् ॥१७॥

(इसके विपरीत) वह 'अनृत' ही निश्चित रूप से पूर्णता का हेतु है विशेष कर दुस्संकट में तथा सर्वनाश की बेला में। हे प्रजापते! श्रेष्ठ प्रयत्नों से रक्षित किया गया 'असत्य' ही, अपने शरणागत प्राणी की स्वयं रक्षा करता है।

बुधानामियं काऽपि गाथा पुराणी
मयोदाहृता श्रेयसे हृद्यरूपा।
सुगूढा गतिर्धर्मतत्त्वस्य राजन्
न खल्वेकपन्थाः परत्रोदयानाम् ॥१८॥

विद्वज्जनों द्वारा कही गई मनोरम रूप वाली यह पौराणिक गाथा मैने आपके कल्याणार्थ प्रस्तुत की है। हे राजन्! धर्म-तत्त्व की गति बड़ी रहस्यमय है। पारलौकिक अभ्युदय की प्राप्ति का एक ही मार्ग नहीं है।

महावेगगामिन्यपां सुप्रवाहे
यथा सन्तरत्येव सर्वं प्रकामम्।
अमेध्यञ्च मेध्यं तथा धर्मधारा-
म्भसि प्रायशः सर्वमेव प्रलीनम् ॥१९॥

जैसे जलों के महावेगगामी प्रवाह में सब कुछ अच्छी तरह बहता रहता है—पवित्र तथा अपवित्र, ठीक उसी प्रकार धर्म रूपी धाराजल में प्रायः सब कुछ विलीन हो जाता है।

किमस्तीह शास्त्राविरुद्धं सुकार्यं
विरुद्धञ्च किं नात्र मैत्री बुधानाम् ।
विजानाति कोऽत्यन्तसत्यं पृथिव्यां
विरुद्धप्रमाणं ततो धर्मशास्त्रम् ॥२०॥

इस संसार में, शास्त्र का अविरोधी शोभन कर्म क्या है और विरुद्ध (अकरणीय) कर्म क्या है ? इस विषय में विद्वानों का ऐकमत्य नहीं । इस पृथ्वी पर भला आत्यन्तिक सत्य को जानता कौन है ? इसलिए धर्मशास्त्र (भी) परस्पर विरोधी प्रमाणों से युक्त है ।

तृषा यस्य यत्रैव तृप्येत्समूलं
स एवास्ति तस्यामृताम्भोधिरिष्टः ।
अतस्सर्वमेव प्रपञ्चं विहाय
स्फुरच्छ्रेयसे वत्स ! सम्यग्यतस्व ॥२१॥

जिसकी पिपासा जहाँ समूल शान्त हो जाय, वही उसका अभीष्ट अमृतसागर है । इसलिये हे वत्स ! सारे प्रपञ्चों को छोड़कर (अपने) आसन्न कल्याण के लिए सम्यक् रूप से प्रयत्न करो ।

सुचिन्त्यं सुधार्यं सुमान्यं सुकार्यं
निरातङ्कमात्मीयसंरक्षणार्थम् ।
शरीरं यतस्साधनं सिद्धिमूलं
ततस्सर्वमेवास्ति धर्म्यं वरेण्यम् ॥२२॥

चूंकि समस्त सिद्धियों का मूल तथा (उनकी प्राप्ति का) साधनभूत, सरलता से सोचने योग्य, सरलता से धारण करने योग्य, सर्वथा मानने योग्य, सुकरणीय तथा आत्मीय संरक्षण के लिए आतंकरहित शरीर ही है, अतएव (उसके कल्याणार्थ) सब कुछ वरेण्य तथा धर्मसंगत ही है ।

विवाहे द्विजानां गवां रक्षणार्थे
पुरन्ध्रीषु नर्मण्यथ प्राणहानौ ।

न वा जीविकार्थेऽनृतं सुप्रयुक्तं
जुगुप्साश्रयं नीतिमन्तोऽधिजग्मुः ॥२३॥

विवाह में, ब्राह्मणों तथा गायों की रक्षा में, महिलाओं (के साथ वार्तालाप) में, हास-परिहास में, प्राणसंकट में तथा जीवनोपाय के सन्दर्भ में जानबूझकर प्रयुक्त किये गये अनृत को नीतिविदो ने निन्दा का विषय नहीं माना है।

न तद्दानमस्ति प्रशस्तं कथञ्चित्
प्रभो ! येन वृत्तिर्विपद्येत भूम्ना।
क्व वा वृत्तिहीनस्य दानं द्वितीयं
क्व यज्ञस्तपः कर्म वा कर्मलोके ॥२४॥

हे प्रभो ! वह दान किसी भी प्रकार प्रशस्त नहीं होता है, जिससे (अपनी) वृत्ति ही पूर्णतः विपन्न हो जाय। वृत्तिहीन (कंगाल) व्यक्ति के लिये फिर दूसरा दान कहाँ संभव है ? इस कर्मलोक में वह यज्ञ, तप तथा (अन्यान्य) पुण्यकर्म कैसे करेगा ?

अतस्सवमेवावधूयायमात्मा
त्वया रक्षणीयः स्ववृत्त्येकमूलम्।
प्रणष्टं यशः सत्क्रियाप्रापणीयं
प्रणष्टो न चात्मा परन्त्वेति भूयः ॥२५॥

अतः सब कुछ उपेक्षित करके आपको अपनी आत्मा (व्यक्ति) की ही रक्षा करनी चाहिए जो कि अपनी वृत्ति (जीवनयात्रा) का एकमात्र साधन है। यश नष्ट हो गया तो श्रेष्ठ कर्मो से पुनः प्राप्त हो जायेगा। परन्तु यह शरीर नष्ट हो गया तो दुबारा कहाँ प्राप्त हो पाता है ?

असत्ये न दुष्यत्यसत्यप्रयोगः
शठे शाठ्यवृत्तिर्न निन्द्या नरेन्द्र।

विषस्यौषधं कालकूटेतरन्नो
हरेत्कण्टकं कण्टकेनैव राजन् ॥२६॥

हे नरेन्द्र ! असत्य के सन्दर्भ में असत्य का प्रयोग करना कोई दोष नहीं। शठ के साथ शठता का व्यवहार करना निन्दा की बात नहीं। विष को छोड़कर विष की दूसरी कोई औषधि नहीं होती। हे राजन् ! काँटा काँटे से ही निकालना चाहिए।

स्वयं चेश्वरः कर्मसाक्षी समेषां
श्रयत्येव कूटां तनुं यद्यसत्यः।
क्व ते सत्यसंकल्परक्षाप्रसङ्गो
मनोदुर्बलत्वं ह्यतो वारणीयम् ॥२७॥

सभी प्राणियों के कर्म का साक्षी, स्वयमेव परमेश्वर यदि सत्यच्युत होकर छद्म-शरीर (वामन) को धारण कर रहा हो तो फिर आपके लिये सत्य की रक्षा का प्रसंग रहा ही कहाँ ? इसलिए (अपने) मन की दुर्बलता का निवारण कीजिये।

पुनस्ते ब्रवीम्यात्मवृत्तिप्रसङ्गं
बले ! यद्यपीदं भवेत्पौनरुक्त्यम्।
समर्थोऽपि निर्दोषवाणीप्रयोगे
सहे सर्वमेव त्वदुद्धारणाय ॥२८॥

हे दैत्यराज बलि ! मैं पुनः तुम्हें आत्मरक्षा की बात समझाता हूँ। गोकि यह पुनरुक्ति मात्र है। निर्दोष (पुनरुक्तिविहीन) वाणी के प्रयोग में समर्थ होते हुए भी मात्र तुम्हारे उद्धारण (बचाव) हेतु सब कुछ सह रहा हूँ।

प्रभो ! येन दानेन दातुर्यथेष्टं
भवेत्स्वीयकर्तव्यमात्रानुभूतिः।
परत्रेहसौख्यक्षमं तन्महिष्ठं
वदन्त्यागमज्ञा नु सत्त्वप्रधानम् ॥२९॥

हे प्रभो ! जिस दान से दाता को यथेष्ट रूप से अपने कर्तव्यपालन मात्र की अनुभूति हो और जो दान परलोक तथा इहलोक में सुख देने में समर्थ हो—आगमवेत्ता (बुधजन) उसी सत्त्वप्रधान दान को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

समृद्धेन दानेन येनान्तराले
प्रदातुर्हि जायेत दानाभिमानः।
दधल्लोककीर्तिव्रजं राजसं त-
न्महीयो बुधा मध्यमं दानमाहुः ॥३०॥

जिस समृद्ध (प्रचुर) दान से, दानी के हृदय में दान का अभिमान उत्पन्न हो जाय, लौकिक कीर्ति-पटल को विस्तृत करने वाले उस महनीय दान को विद्वानों ने मध्यमकोटिक 'राजस' दान कहा है।

परं येन दानेन वृत्तिर्विनश्येन्
मनश्चापि पश्चात्तपेत्याधिविद्धम्।
तदाहुर्बुधास्तामसं वाऽधमं वा
न तेन प्रदातुः परत्रेह शर्म ॥३१॥

परन्तु जिस दान से (अपनी) वृत्ति ही चौपट हो जाय और अन्तः सन्ताप से बिंधा मन भी पश्चात्ताप करने लगे, पण्डितों ने उसे अधमकोटि का 'तामस' दान बताया है। उस दान से दाता का न तो परलोक में कल्याण होता है, न ही इहलोक (संसार) में।

अतस्तामसं दानमेतन्न राज-
न्नजाकण्ठजातस्तनाभं निरर्थम्।
त्वया लोककौलीनकारि प्रवञ्च्यं
समापादनीयं परोक्षावसादम् ॥३२॥

अतएव हे राजन् ! यह तामस दान आप द्वारा (कथमपि) स्वीकार करने योग्य नहीं है जो कि बकरी के गले में लटके स्तनों की भाँति निरर्थक (दुग्धहीन)

लोकनिन्दा-सर्जक, प्रवञ्चनयोग्य तथा परोक्ष में अवसाद (पीड़ा) उत्पन्न करने वाला है।

गुरुत्वं मया दर्शितं स्वानुभूत्या
यतस्त्वं प्रियो मे गुणैः स्वैरुदारैः।
यथा रोचते साम्प्रतं तत् कुरुष्व
प्रभुस्सार्वभौमोऽसि नूनं समेषाम् ।।३३।।

चूंकि तुम अपने उदार गुणों के कारण मुझे प्रिय हो अतएव अपनी अनुभूति (समझ) से मैंने गुरुता प्रदर्शित कर दी। अब जैसा रुचे, वैसा करो। निश्चय ही तुम सबके सार्वभौम प्रभु हो।

इतीवाशु सम्मन्व्य मध्येसभं तं
पताकत्रयाबद्धहस्तप्रचारैः ।
गुरौ भार्गवे नीतिमंत्रप्ररोहे
प्रतूष्णीं स्थिते दानवेन्द्रस्तताम ।।३४।।

उँगलियों की 'त्रिपताकमुद्रा'[1] से युक्त हस्त-प्रचारों द्वारा बीच सभा में ही इस प्रकार उसे समझा-बुझा कर, नीतियों तथा मंत्रों के अंकुरभूत भार्गव शुक्राचार्य के एकदम चुप हो जाने पर—दानवेन्द्र बलि सन्तप्त हो उठा।

युग्मकम्

धियामुः परं पारमुद्वेलवारा-
मगाम्भीर्यविज्ञोऽक्षमश्चापि तर्तुम्।
विमूढो महानिम्नगातीरसंस्थः
प्रवासीव यात्री बलिस्सन्दिहानः ।।३५।।

---

१. रंगमंच पर जब कोई पात्र, हथेली की आड़ में कोई रहस्यमय बात अपने सहचर से कहता है तो उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। जनान्तिक में अनामिका तथा अंगुष्ठ नीचे मुड़े रहते हैं, शेष तीन उँगलियाँ पताका की तरह ऊपर उठी रहती हैं। इसी को 'त्रिपताक मुद्रा' कहा जाता है।

जैसे सन्तरण-कला से अनभिज्ञ, जल की गहराई को न जानने वाला (परन्तु) उफनती जलराशियों के दूसरे पार तक पहुँचने का इच्छुक कोई किंकर्तव्यविमूढ़ परदेशी यात्री विशाल सरिता के तट पर बैठा रह जाय उसी प्रकार सन्देह ग्रस्त बलि (भी)।

न पश्चान्न चाग्रेऽभिसर्तुं समर्थः
परं दैन्यमाप क्षणं मोहविद्धः।
उदग्रप्लुतः कर्दमौघप्रसक्तो
धुनीसैकते हन्त वातप्रमीव ॥३६॥

न पीछे लौटने में, न ही आगे बढ़ने में समर्थ होता हुआ क्षणभर के लिए मोहविद्ध होकर अतिशय दैन्य को प्राप्त हो उठा। उसकी स्थिति कीचड़ के अम्बार में लिपटे, नदी की रेत में ऊँची छलाँग भरते वातप्रमी मृग के समान हो गई (जो रेत के कारण भाग नहीं पाता)।

इतो लोकवृत्तिर्निजास्तित्वरक्षा
ततश्चाप्यकीर्तिर्मृषावादजन्या।
गुरुश्चैकतः शिष्यतंत्रप्रणेता
प्रभुश्चैकतः सर्वतंत्रस्वतंत्रः ॥३७॥

इधर थी लोकव्यवहार की वृत्ति अर्थात् अपनी लोकयात्रा, अपने अस्तित्व की रक्षा! और उधर थी (दान से मुकरने के कारण) मृषावाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति! एक ओर थे शिष्य के साम्राज्य के प्रणेता गुरु (शुक्राचार्य) और एक ओर थे सर्वतंत्रस्वतंत्र (साक्षात्) परमेश्वर!

महाद्वैधीभिन्नेऽपि बुद्धिप्रवाहे
प्रतीपोहितैर्मथ्यमानेऽन्तराले।

न वैराखदण्डं स्वसत्त्वस्य राजा
मुमोच स्थिरो विष्णुभक्तिप्रपन्नः ॥३८॥

(तथापि) बुद्धिप्रवाह के महाद्वैध (सन्देह) से विभक्त हो जाने पर भी, विपरीत तर्कों द्वारा (कि दान का संकल्प त्याग ही दूँ) हृदय के मथे जाने पर भी—विष्णुभक्ति से ओतप्रोत, स्थिरचित्त राजा बलि ने अपने आत्मबल रूपी आश्रय को छोड़ा नहीं।

न वा विव्यथे नोच्चचालाल्पमात्रं
न च ग्लानिमेतो न मोहं धृतिघ्नम्।
महावेगझञ्झानिलेऽपि प्रशान्तो
महामेरुतुल्योऽवतस्थेऽसुरेन्द्रः ॥३९॥

न वह व्यथित हुआ और न ही तनिक भी उद्भ्रान्त हुआ। न वह ग्लानि को प्राप्त हुआ, न ही धैर्य का नाश करने वाले मोह को। महावेगशाली झञ्झानिल (तूफान) में भी प्रशान्त महामेरु (सुमेरु) के समान दैत्यराज बलि स्थिर खड़ा रहा।

तमस्काण्डमर्कोदयस्सुप्रभाते
यथा ध्वंसयत्येव पूर्णावकाशः।
विवेकोदयो द्वैधभावं तथैव
जघास क्षणं भूपचित्तप्रविष्टम् ॥४०॥

जैसे शोभन प्रभातवेला में, सूर्योदय चारों ओर व्याप्त अन्धकार-पटल को विध्वस्त कर ही देता है उसी प्रकार नरेन्द्र बलि के विवेकोदय ने क्षणभर में ही चित्त में प्रविष्ट शंका-सन्देह की भावना को निगल लिया।

वटुं वामनं हन्त दानार्थिमात्रं
यमज्ञासिषं रुद्धबुद्धिप्रवाहः।

यदद्धा हरिर्लोकसाक्षी स विष्णु-
स्तदा धन्यधन्योऽस्मि जातः प्रकामम् ।।४१।।

(वलि ने मन ही मन सोचा) ओह ! अवरुद्ध बुद्धिप्रवाह वाले मैंने जिस वामन ब्रह्मचारी को दान लेने वाला याचकमात्र समझा, यदि वह सचमुच लोकसाक्षीभूत भगवान् श्रीहरि विष्णु हैं, तो फिर मैं पूर्णतः धन्यातिधन्य हो उठा ।

मणौ काचबुद्धिं प्रकुर्वन् दरिद्रो
यथा प्रत्यभिज्ञापितो रत्नविज्ञैः ।
क्षणेनैव कौबेरसाम्यं महार्घं
श्रयत्येवमेवास्मि जातो महार्घः ।।४२।।

मणि को काँच समझने वाला कोई दरिद्र जैसे जौहरियों द्वारा (रत्न की) पहचान करा देने पर, क्षणभर में ही महामूल्ययुक्त भगवान् कुबेर की समता प्राप्त कर ले, वैसे ही मैं भी महाभाग्यशाली वन गया हूँ ।

न वेत्तुं समर्थोऽहमज्ञानविद्धः
स्वयं प्रस्तुतं द्वारि लक्ष्मीपतिं यत् ।
तदेवास्ति मे शल्यभूतं निखातं
मया यल्लघुर्वामनो लघ्वकारि ।।४३।।

अज्ञान से बिंधा मैं (अपने) द्वार पर स्वयं समुपस्थित लक्ष्मीपति को समझ पाने में जो समर्थ नहीं हो सका, बस वही शल्य बन कर (मेरे हृदय में) गहरे धँस गया है कि मैने भगवान वामन की अवहेलना की ।

अतस्तोषयिष्ये त्रिलोकाधिपं तं
स्ववंशैकपूज्यं स्वसर्वस्वनाशैः ।
धनं वैभवं हन्त गोविन्ददत्तं
समर्प्यैव तस्मै कृतार्थो भवेयम् ।।४४।।

अतएव अपने सर्वस्व के नाश (प्रत्यर्पण) द्वारा भी अपने वंश के एकमात्र पूज्य, त्रिलोकाधिप उन (विष्णु) को मैं परितुष्ट करूँगा। ओह ! गोविन्द की कृपा से ही प्राप्त धन एवं वैभव को, उन्हीं को समर्पित करके कृतार्थ हो लूँगा।

क्षणं सस्मार कर्त्तव्यं बलिरेवं स्थिरान्तरः।
मनस्येव समाधानं मार्गयामास पार्थिवः ॥४५॥

इस प्रकार सुस्थिर मन वाले बलि ने क्षण भर में ही अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। नरेश ने (अपनी समस्या का) समाधान मन में ही खोज लिया।

क्षणं पुनश्च सस्मार महाभागवतं निजम्।
प्रह्लादं श्रेयसां मूलं पितामहमनुत्तमम् ॥४६॥

पुनः क्षणभर के लिए उन्होंने कल्याण-परम्परा के मूल, अपने उत्तमोत्तम पितामह महाभागवत प्रह्लाद को स्मरण किया।

ततश्चान्ते महाविष्णोर्वामनीं तनुमश्नुतः।
परया श्रद्धया भेजे शरणं पादपङ्कजम् ॥४७॥

और तब, अन्ततः वामन शरीर धारण करने वाले भगवान् महाविष्णु के चरणकमलों की शरण में (दैत्यराज बलि) प्रभूत श्रद्धा के साथ जा पहुँचे।

दर्शं दर्शं नु सस्मेरं कृपालोर्वदनाम्बुजम्।
मायामाणवकस्यागात् पुलकं बलिरान्तरम् ॥४८॥

मायापूर्वक वामन वटु का रूप धारण करने वाले, कृपामय (भगवान् विष्णु) के मुस्कानयुक्त वदनकमल को बार-बार निहारते हुए बलि मन ही मन पुलकित हो उठे।

उपर्युपर्यधोऽधोऽसौ प्रत्यक्तिर्यक् च सर्वतः ।
विराजमीश्वरं सम्यक् मनोवृत्त्यैव दृष्टवान् ।।४९।।

अपने मनोऽभिनिवेश द्वारा ही बलि ऊपर, नीचे, प्रत्यक्ष तथा पार्श्वभागों में—सर्वत्र ही विराजमान परमेश्वर को भलीभाँति देखने लगे ।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽऽनघम् ।।५०।।

वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी जैसी कोख में, मोती जैसे व्यक्तित्व वाले कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया—देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के मध्य मणि के समान वही राजेन्द्रमिश्र अपनी हार्दिक परितुष्टि के लिये, देववाणी के माध्यम से, भगवान् त्रिविक्रम के निष्पाप यश का गायन कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५१।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्ण-समूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा जिसका पवित्र फल है—वह निसर्गजात अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यद्रुम चिरजीवी हो ।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
वामनोपनयनाभिधः सप्तमः सर्गः ।

● ●

# एकादशः सर्गः

अथाभिवन्द्याङ्घ्रियुगं पवित्रं
कृतज्ञताभावभरावनम्रः ।
हितैषिणं नीतिरहस्यविज्ञं
पुरोधसं स्वं दितिजो बभाषे ॥१॥

इसके अनन्तर, कार्तज्ञ्यभाव के भार से अवनत दैत्यपति बलि ने अतिशय वन्दनीय चरणयुगल वाले, हितेच्छुक, नीति के रहस्य को जानने वाले, आचरणपूत अपने पुरोहित (शुक्राचार्य) से कहा ।

अकालमेघोदय भूरिवर्ष !
मरुप्रभे नीरसचिन्तने मे ।
गुरो कृपालो भवता सदैव
कृपालवैः स्वैर्विशदीकृतोऽस्मि ॥२॥

मरुभूमि के समान मेरे नीरस-चिन्तन में प्रभूत वर्षा करने वाले हे अनवसर उदित मेघ ! हे कृपालु गुरुवर्य ! आपने सदैव ही अपने कृपाकणों से मुझे विशद (निर्मल) बनाया है ।

यथाऽस्म्यतीतेऽपि यथाऽहमासं
पुनर्यथाऽहं भविता भविष्ये ।
प्रभो ! त्रिकालस्थितिरुन्नता मे
त्वदेकमूला त्वदुपायसिद्धा ॥३॥

(आज मैं) जैसा हूँ, अतीत काल में भी मैं जैसा था और पुनः भविष्य में मैं जैसा हो जाऊँगा—हे भगवन् ! वह मेरी समुन्नत सार्वकालिक स्थिति एकमात्र आपके कारण है तथा आपके ही उपायों से सिद्ध हुई है ।

प्रयोजकस्यास्मि तव प्रयोज्यः
प्रबोधकस्यास्मि तव प्रबोध्यः।
प्रकाशकस्यास्मि तव प्रकाश्यः
शिखावलोऽनेहसि धर्मसिन्धो !!४।।

मैं तो आप सरीखे प्रयोजक का प्रयोज्य हूँ। आप जैसे प्रबोधक का प्रबोध्य मात्र हूँ। हे धर्मसिन्धो ! इस संसार में मैं आप सरीखे प्रकाशक द्वारा प्रकाश्य दीपक के समान हूँ।

क्व ते त्रयीसिन्धुविमन्थनोत्थं
धियोऽमृतं जीवनतन्तुहेतुः।
क्व मे विभो ! राजनयप्रपापो-
विभङ्गुरं धीचुलुकं तृषाहृत् ।।५।।

कहाँ तो आपका वेदत्रयी-रूपी सागर के मंथन से उत्पन्न, जीवन-तन्तु का आधारभूत चिन्तनामृत और हे प्रभो ! कहाँ मेरा राजनीति रूपी प्रपाजल (पौसाले का पानी) का छिन्न-भिन्न, तृषाहारक बुद्धि रूपी चुलुक ?

शिशुर्यथा स्वैरमनाः पितृभ्यां
भृशं निरुद्धोऽप्यमतं करोति।
अहं तथा भूर्यवलोकयिष्ये
विवक्षमाणो भवताऽत्र किञ्चित् ।।६।।

जैसे माता-पिता द्वारा बार-बार मना करने पर भी स्वतंत्र मनोवृत्ति वाला शिशु (माता-पिता के) प्रतिकूल कार्य करता है, सम्प्रति आपके साथ कुछ कहने-सुनने का इच्छुक मैं आप द्वारा उसी प्रकार पुनः देखा जाऊँगा।

पृथङ्मतिञ्चापि विलोक्य मह्यं
शुभाशिषं यच्छतु तत्प्रयाचे।

फलेषु पुष्पेषु निसर्गभेदः
समञ्जसत्वं ह्युभयोस्तथापि ॥७॥

मेरी (अपने से) पृथक् गति को देखकर भी आप मुझे शुभाशीर्वाद प्रदान करें—यही मेरी याचना है। फलों तथा पुष्पों में स्वभावतः भिन्नता होती है, फिर भी दोनों में सामञ्जस्य तो होता ही है (एक ही वृक्ष से संलग्न होने के कारण)।

ऋतञ्च सत्यञ्च विधूय नाहं
कलङ्कितं वंशयशो विधास्ये।
स्वसौख्यगुञ्जाफलवर्णलुब्धो
न काञ्चनं धर्मपथं प्रसिस्ये ॥८॥

ऋत एवं सत्य को उपेक्षित करके मैं (अपनी) वंशकीर्ति को कलंकित नहीं करूँगा। अपने सुखरूपी गुञ्जाफलों के रंग का लोभी बन कर मैं काञ्चन-धर्ममार्ग को संकटापन्न नहीं करूँगा।

अर्थञ्च कामञ्च यशश्च वृत्ति
न यः प्रबाधेत कथञ्चिदेव।
गृहौकसां धर्मपथः प्रशस्तः
स एव नूनं विदुषामभीष्टः ॥९॥

जो अर्थ, काम, यश तथा जीवनोपाय को किसी भी प्रकार बाधित न करे, गृहमेधियों (गृहस्थों) के लिये वही धर्म-पथ प्रशस्त होता है और निश्चय ही विद्वज्जनों को भी वही अभीष्ट होता है।

तथापि पूर्वं वटवे ददामी-
त्यहं प्रतिश्रुत्य कथं स्वलोभात्।
प्रयाचकं भग्नमनोरथं तं
करोमि चात्मानमपि व्यलीकम् ॥१०॥

फिर भी, पहले इस वामन वटु को (तुम्हें दान) 'दूँगा' इस प्रकार का वचन देकर (अब) आत्मलोभ के कारण कैसे उस श्रेष्ठ याचक को मैं भग्न-मनोरथ करूँ तथा स्वयं को भी झूठा सिद्ध करूँ ?

न चाऽसत्यधर्मस्सुमहत्तरोऽस्मिन्
जगत्यसत्यादिति भूमिराह ।
सुखं समर्थाऽखिलमेव सोढुं
न किन्तु शक्ताऽनृतवादिनं तम् ॥११॥

'इस संसार में असत्य से बड़ा और कोई अधर्म नहीं है' पृथ्वी (भी ऐसा) कहती है । 'मैं सब कुछ सह लेने में सरलता से समर्थ हूँ, परन्तु उस असत्यवादी को (ढो पाने में) समर्थ नहीं' ।

बिभेमि नाऽहं निरयान्न मृत्यो-
र्न चाप्यधन्यादसुखार्णवाद्वा ।
पदच्युतेश्चापि तथा न भीतो
यथा प्रभो ! भूसुरविप्रलम्भात् ॥१२॥

हे प्रभो ! न मैं नरक से डरता हूँ, न मृत्यु से और न ही दुर्भाग्यपूर्ण विपत्ति के सागर से ! मैं पद प्रतिष्ठा की च्युति से भी उतना भीत नहीं जितना कि ब्राह्मण की प्रवञ्चना से ।

दिवङ्गतं यद् विजहाति लोके
स्वसंग्रहे यत्नपरं नृरत्नम् ।
धनादिकं तत्किल मे प्रसक्तिं
तनोति नो तस्य वरं प्रदानम् ॥१३॥

लोक में, अपने संग्रह में प्रयत्नरत (परन्तु) दिवंगत नररत्न को जो स्वयं त्याग देता है (उसके साथ नहीं जाता) वह धन-वैभवादि निश्चय ही मेरी आसक्ति को पुष्ट नहीं करता । उसको दान कर देना ही उचित है ।

पुरापि दध्यङ्शिवितातपादाः
सुसाधवो भूतहितान्यकुर्वन् ।
सुदुस्त्यजैश्चाप्यसुभिर्विकल्प-
स्ततो नु को वित्तधरादिषु स्यात् ।।१४।।

प्राचीन काल में भी श्रेष्ठ महापुरुष दध्यङ् (महर्षि दधीचि) शिवि तथा मेरे पिताश्री (विरोचन) ने, अत्यधिक दुःख से त्यागने योग्य प्राणों को भी देकर प्राणियों का कल्याण किया था। अतएव सम्पत्ति एवं पृथ्वी आदि के प्रति विकल्प (चयन भाव) कैसा ?

अनन्तविस्तारमयी सुरम्या
नदीनदाम्भोधिवनीसमृद्धा ।
धरा च्युता मृत्युवशङ्गतानां
जयैषिणां किन्तु यशो न जीर्णम् ।।१५।।

अनन्त विस्तार वाली, अत्यन्त रमणीय, नदी-नद-सागर तथा वनों से भरी-पुरी यह पृथ्वी दिग्विजयेच्छुक (परन्तु) मृत्यु के वशीभूत हो उठने वालों से छूट गई, फिर भी उनका यश जीर्ण नहीं हुआ।

तनुत्यजस्सन्ति सुखोपलब्धा
रणाङ्गणे देव ! सहस्रशोऽपि ।
धनत्यजः किन्तु सुखेन तीर्थे
समागते द्वारि सुदुर्लभास्ते ।।१६।।

हे भगवन् ! समराङ्गण में शरीर त्यागने वाले हजारों (सैनिक) लोग सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु द्वार पर तीर्थ (श्रेष्ठ याचक) के उपस्थित होने पर सुख पूर्वक धन का त्याग (दान) करने वाले वे (महापुरुष) अत्यन्त दुर्लभ हैं।

युग्मकम्

त्रयीमयाम्नायविधानदक्षा
विभक्तशास्त्रग्रथिलप्ररोहाः ।
भजन्ति यज्ञक्रतुभिर्भवन्तोऽ
प्यहर्निशं यं पुरुषं पुराणम् ॥१७॥

वेदत्रयी से युक्त आम्नाय (श्रुतिपरम्परा) के विधान में दक्ष तथा शास्त्रों के उलझे प्ररोहों (विचारों) को सुलझाने वाले आप भी यज्ञों तथा क्रतुओं द्वारा रात-दिन जिस पुराण-पुरुष को प्रसन्न करते रहते हैं।

अयं वटुस्स्याद्यदि वा स एव
त्रिलोकपूज्यो वरदोऽथ विष्णुः।
तथाप्यमुष्मै त्रिपदां धरित्रीं
हठात्प्रदास्याम्यहमर्थिनेऽद्य ॥१८॥

यह वामन वटु यदि वहीं है अथवा त्रैलोक्य-वन्दनीय वरद विष्णु ही है तो भी, आज मैं याचकभूत उसको हठपूर्वक त्रिपदा धरित्री दान में दूंगा।

त्रिलोकसाम्राज्यमिदं प्रदत्तं
स्थिरायति प्राणिधरेण येन।
स एव याचेत यदि स्ववस्तु
तदर्पणे हानिरिहास्ति का मे ??१९॥

प्राणियों को धारण करने वाले जिस (परमेश्वर) के द्वारा सुस्थिर आयति (अवधि) वाला यह त्रैलोक्य-साम्राज्य (मुझे) दिया गया है, यदि वही अपनी वस्तु को माँगता है तो उसे अर्पित करने में भला मेरी हानि क्या है ?

इदन्तु गोविन्द ! तवैव वस्तु
समर्पयेऽहं ननु तुभ्यमेव।

निवेद्य नैवेद्यनिवेदनीयम्
इतीव मुक्तो भवितास्मि बन्धात् ॥२०॥

'हे गोविन्द ! यह (साम्राज्य-वैभव) तुम्हारी ही वस्तु है। मैं (इसे) आपको ही अर्पित कर रहा हूँ।' इस प्रकार, नैवेद्य के रूप में समर्पित करने योग्य (पृथ्वी) को प्रदान कर मैं बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा।

पितामहो मेऽक्षततातसौख्यं
ध्रुवं जहौ किन्तु ररक्ष सत्यम्।
पिताऽपि मे प्राणवियोगपीडां
विषह्य सत्यं यशसे जुगोप ॥२१॥

मेरे पितामह (प्रह्लाद) ने अक्षत पितृसुख को निश्चय ही तिलाञ्जलि दे दी, परन्तु सत्य की रक्षा की। मेरे पिताश्री (विरोचन) ने भी प्राणत्याग की पीड़ा को सह कर (अपने) यश के लिए, सत्य की रक्षा की।

तदद्य तद्वंशयशोधरोऽहं
कुलव्रतं नैव कलङ्कयिष्ये।
प्रतिश्रुतां देव ! धरां त्रिपादां
द्विजाय दास्यामि मयि प्रसीद ॥२२॥

तो फिर आज, उन्हीं की वंशकीर्ति को धारण करने वाला मैं अपने कुलव्रत को कलंकित नहीं करूँगा। हे देव ! इस ब्रह्मचारी के निमित्त संकल्पित 'त्रिपदा-धरित्री' मैं दूँगा। आप प्रसन्न हों।

निशम्य वाक्यानि बलेरितीव
गुरोरनादेशकराणि शुक्रः।
शशाप दैवप्रहितात्मबुद्धि-
र्मनस्विनं तं किल सत्यसन्धम् ॥२३॥

गुरु की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाले, बलि के इस प्रकार के वाक्यों को सुन कर, दैव से प्रेरित अपनी बुद्धि वाले शुक्राचार्य ने उस मनस्वी सत्यप्रतिज्ञ नरेश को शाप दे दिया।

अहो न्वियं पण्डितभानिता ते
ततश्च मच्छासनलङ्घितत्वम् !
उपेक्षणञ्चापि मम प्रकामं
स्वसत्यसन्धत्वमहाभिमानः ॥२४॥

'आश्चर्य है, तुम्हारा स्वयं को पण्डित मानने का यह अहंकार ? उसके बाद मेरी आज्ञा को उल्लंघित करने का भाव ! मेरी भरपूर उपेक्षा तथा अपनी सत्य-प्रतिज्ञता का महान् अभिमान' ?

बले ! फलं स्वाविनयस्य शीघ्रम्
अवाप्स्यसि त्वं च्युतराज्यसौख्यः ।
स्थितोऽसि नो मद्वचने यतस्त्वं
प्रादर्शयो मय्यवमाननञ्च ॥२५॥

'दैत्यराज बलि ! राज्यसुख से वंचित होकर तुम अपने अविनय (उद्दण्डता) का फल शीघ्र ही प्राप्त करोगे क्योंकि तुमने मेरे प्रति अवमानना प्रदर्शित की है तथा मेरे वचनों (के पालन) में स्थित नहीं रहे हो।'

स्ववंशवन्द्याङ्घ्रिगुरोस्तमुग्रं
निशम्य शापं बलिरात्मनिष्ठः ।
चचाल नो नैव जगाद किञ्चिन्
नतेन शीर्षेण दधार सर्वम् ॥२६॥

अपने वंश द्वारा वन्दनीय चरणों वाले गुरु (शुक्राचार्य) के उस भयावह शाप को सुन कर (भी) आत्मनिष्ठ बलि तनिक भी न तो कम्पित हुआ, न ही कुछ बोला। सिर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लिया।

यथाश्रुति प्राघुणिकीं सपर्यां
प्रपूर्य वैरोचनिरम्बुदर्भैः ।
ददौ त्रिपादामवनीमभीष्टां
सदर्थिनेऽवामनवामनाय ॥२७॥

तदनन्तर, विरोचनपुत्र बलि ने कुश एवं जल से, वेद-सम्मत विधि के अनुसार अतिथि की पूजा सम्पन्न कर, श्रेष्ठयाचक तथा (परमार्थतः) अ-वामन (महाविशाल) वामन-वटु को तदभीष्ट त्रिपदा-धरित्री प्रदान की ।

सुवर्णकुम्भं धृतपाद्यतोयं
ततो नु विन्ध्यावलिरानिनाय ।
बलिर्मुदा क्षालितवान् मनोज्ञं
वटोः पदाम्भोजयुगं सभार्यः ॥२८॥

उसके बाद (बलि की पत्नी) विन्ध्यावलि पादप्रक्षालन योग्य जल से परिपूर्ण सुवर्णघट ले आई और भार्या-सहित बलि ने प्रसन्नता-पूर्वक ब्रह्मचारी के रमणीय चरणकमल-द्वय को पखारा ।

पदाम्बुजापो ननु पावयित्री-
श्चतुर्दशाणां भुवनव्रजाणाम् ।
वहत्यमुष्मिन्नृपतौ स्वमूर्ध्ना
जिगाय वाटं जयजीवशब्दः ॥२९॥

चतुर्दश भुवनों के समूहों को पवित्र करने वाली (भगवान् वामन के) चरण-कमलो की (निर्णेजन) जलराशियों को जैसे ही उस नरपति बलि ने अपने शीश पर धारण किया (वैसे ही) यज्ञवाट से 'जय हो, चिरञ्जीव' की ध्वनि फूट पड़ी ।

व्यलोकि सान्द्रा घनपुष्पवृष्टि-
श्चाकर्णि शंखध्वनिरस्ततन्द्रः ।

व्यपाठि वैतालिकवन्दिमुख्यैः
कुलानुशंसाऽऽर्जवशीलयुक्ता ॥३०॥

निरन्तर सघन पुष्पवृष्टि दृष्टिगोचर होने लगी। आलस्य को समाप्त कर देने वाली शंखध्वनि सुनाई पड़ने लगी। प्रमुख वैतालिकों तथा चारणों द्वारा ऋजुता तथा सदाचार से युक्त (बलि के) वंश की विरुदावली पढ़ी जाने लगी।

मुहुर्मुहुर्दुन्दुभयः प्रणेदुः
सहस्रशो वेणुरवानुयाताः।
जगुर्हि गन्धर्वगणा मनोज्ञं
श्रुतिस्वरारोहविरोहसिद्धाः ॥३१॥

वेणुध्वनि से अनुगत हजारों दुन्दुभियाँ (तुरहियाँ) बजने लगीं। (इक्कीस) श्रुतियों तथा (सप्त) स्वरों के आरोह-अवरोह में सिद्धहस्त गन्धर्व-मण्डली मनोरम गायन करने लगी।

समन्ततोऽश्रूयत धन्यधन्ये-
त्युदुन्मुखोच्चारितपूतशब्दः।
महर्षियोगीन्द्रतपस्विसंघो
हयाध्वरस्थो मुमुदे प्रकामम् ॥३२॥

'धन्य हो, धन्य हो' मुँह ऊपर करके, उच्चारित किया गया यह पवित्र शब्द चारों ओर सुनाई पड़ने लगा। अश्वमेध-यज्ञ में उपस्थित महर्षियों, श्रेष्ठयोगियों तथा तपस्वियों का संघ पूर्णतः आह्लादित हो उठा।

सवाहना व्योम्नि सुराश्च मुख्या
विद्याधराश्चारणकिन्नराद्याः।
सुदुष्करं दानमिदं शशंसु-
र्बलेर्महीदैवतवामनाय ॥३३॥

आकाशमण्डल में अपने वाहनों के साथ उपस्थित, प्रमुख देवगण तथा विद्याधर चारण एवं किन्नर आदि ने—पृथ्वी के देवता श्री वामन को अर्पित किये गये दैत्यराज बलि के इस अत्यन्त दुष्कर दान की प्रशंसा की।

अहो महाश्चर्यकरं विधानं
ववार वैरोचनिरद्य लोके।
पुरोधसा यन्त्वमतोऽपि भूमिं
ददौ मुदा सर्वहराय भूपः ।।३४।।

(देवगण कहने लगे कि) 'ओह ! आज इस संसार में विरोचनपुत्र बलि ने महान् आश्चर्य से ओतप्रोत कार्य कर डाला जो कि कुलगुरु की इच्छा के विपरीत भी, भूपति ने प्रसन्नतापूर्वक भूमि अर्पित कर दी सर्वस्व-हरण करने वाले (याचक वामन) को।'

सुरोपकृत्यै धृतखर्वदेहं
हरिं विजानन्नपि हन्त सम्यक्।
समृद्धिसाम्राज्यहरं ननन्द
प्रभुत्वमागृह्य छलञ्च हित्वा ।।३५।।

'देवताओं के उपकारार्थ वामन-व्यक्तित्व धारण करने वाले श्रीहरि को (अपनी) समृद्धि एवं साम्राज्य का अपहर्ता भलीभाँति जानते हुए भी (राजा बलि ने) छल-छद्म छोड़ कर तथा प्रभुत्व की रक्षा करते हुए—अभिनन्दित किया।'

विलक्षणं हन्त चकार राजा
स्वपूर्वजख्यातिगुणानुकूलम्।
अहो महाभागवतीं प्रतिष्ठां
क्षऽर वंशस्य बलिर्महात्मा।।३६।।

'आह ! राजा बलि ने अपने पूर्वजों की ख्याति एवं गुणों के अनुकूल ही विलक्षण-कार्य किया ! महात्मा बलि ने अपने वंश की महाभागवती प्रतिष्ठा की रक्षा की, आश्चर्य है' ।

श्रुतं न पूर्वं सुमहार्घदानं
यदीदृशं सम्प्रति तच्च दृष्टम् ।
अवादिषुर्यज्ञवितानसंस्था
महर्षयश्चैवमुदारवाचः ॥३७॥

'इस प्रकार का जैसा अत्यन्त महनीय दान पहले कभी सुना नहीं गया था, वही आज दृष्टिगोचर हुआ ।' यज्ञमण्डप में बैठे महर्षिगण इस प्रकार प्रशंसाभरी वाणी व्यक्त करने लगे ।

विहाय तोयं वरटो गुणज्ञो
यथाऽम्बु गृह्णाति विवेकिधुर्यः ।
बलिस्तथा त्यक्तविकारदृष्टि-
र्हरिं स्वरूपेण दधार चित्ते ॥३८॥

विवेकियों में अग्रणी, गुणज्ञ राजहंस जैसे जल को छोड़कर दूध को ग्रहण कर लेता है ठीक उसी प्रकार, विकार की दृष्टि से विरहित बलि ने श्रीहरि को स्वरूपतः चित्त में धारण कर लिया ।

निजाङ्घ्रिभक्तिप्रसवैकहेतुं
स्वसत्यरक्षं स्वमदापहारम् ।
हरिं रजस्सत्त्वतमस्त्रिमूर्तिं
ददर्श तद्युक्तमनाः क्षितीन्द्रः ॥३९॥

श्रीहरि में आसक्त चित्तवृत्ति वाले क्षितीन्द्र बलि ने अपनी चरणकमल-भक्ति की उत्पत्ति के एकमात्र हेतु, अपने सत्य की रक्षा करने वाले तथा अपने राज्यमद

का अपहरण करने वाले, सत्त्व-रजस् तथा तमस् रूपी त्रिगुणात्मक मूर्ति वाले नारायण को (तत्त्वतः) देख लिया ।

श्रितो महाभागवतीं सुदृष्टिं
पैतामहीं दैत्यपतिस्सभार्यः ।
सर्वात्मनाऽत्मानमनन्तधाम्नो
हरेः पदाम्भोजयुगे युयोज ।।४०।।

पितामह (महात्मा प्रह्लाद) द्वारा आत्मसात् महाभागवती शोभन दृष्टि का आश्रय लेने वाले दैत्यपति बलि ने भार्यासहित स्वयं को, अनन्त प्रकाशयुक्त श्रीहरि के चरणकमलयुगल में, सर्वात्मना संयुक्त कर दिया ।

सुदर्पणः प्रोञ्छितधूलिकल्पो
यथैति बिम्बग्रहणक्षमत्वम् ।
तथैव शुक्रोद्धृतविष्णुतत्त्वो
यथार्थतो वेद हरिं नरेन्द्रः ।।४१।।

धूलि की पर्त पोंछ देने पर सुन्दर दर्पण जैसे बिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है ठीक उसी प्रकार (भगवान्) शुक्राचार्य द्वारा वैष्णव-तत्त्व की व्याख्या कर देने पर नरेन्द्र बलि ने भगवान् नारायण को परमार्थतः जान लिया ।

यथा च मेघावरणेऽवलुप्ते
नभोऽङ्गणे साधु चकास्ति सूर्यः ।
तथैव मायावरणेऽवलुप्ते
चकासयामास बलौ परेशः ।।४२।।

आकाशमण्डल में जैसे मेघों का आवरण विलुप्त हो जाने पर सूर्य भलीभाँति प्रकाश बिखेरता है ठीक उसी प्रकार, माया-मोह का आवरण दूर हो जाने पर परमेश्वर विष्णु बलि (के हृदय) में प्रकाशित हो उठे ।

यथा च कुम्भावरणेऽवलुप्ते
द्रुतन्नु सिन्धुत्वमुपैति विन्दुः ।
तथैव दम्भावरणेऽपयाते
बलिर्बभूवाच्युतनिर्विशेषः ॥४३॥

जैसे कुम्भ का आवरण (स्वरूप) भग्न हो जाने पर (उसमें रखे गये जल की) ूंद, द्रुतगति से सिन्धु का स्वरूप प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार दम्भ (राजमद) का ावरण नष्ट हो जाने पर वलि अच्युतमय (विष्णुमय) हो उठा ।

प्रभातसूर्येऽभ्युदिते द्रुमाणां
तुषारलेखा विगलेद्यथैव ।
हरिस्वरूपाधिगमे नु पुष्टे
जगाल तस्यापि तथाऽभिमानः ॥४४॥

प्रभातकालीन सूर्य के अभ्युदित होते ही जैसे वृक्षों की तुषार-लेखाएँ (ओस की ूंदें) चू पड़ती हैं ठीक यूँ ही श्रीहरि के स्वरूप-ज्ञान के परिपुष्ट होते ही उस वलि ा भी अभिमान गल गया ।

यथा नु पीतं परितस्समग्रं
समीक्षते पाण्डुरुजाऽवसक्तः ।
ददर्श सर्वं स तथा नरेन्द्र-
श्चराचरं विष्णुमयं समक्षम् ॥४५॥

जैसे पाण्डुरोग से ग्रस्त (रोगी) अपने चारों ओर सब कुछ 'पीला ही पीला' खता है उसी प्रकार वह नरेन्द्र वलि समक्ष विद्यमान सम्पूर्ण चराचर (जगत्) को ष्णुमय देखने लगा ।

उपर्यधोऽधः परितोऽभितो वा
पुरश्च पश्चाच्च बहिस्तथान्तः ।

स आलुलोके हरिमेव पूर्णं
चतुर्भुजं तद्गतचित्तवृत्तिः ॥४६॥

तद्गतचित्तवृत्ति वाला वह बलि ऊपर, नीचे, पार्श्वभागों तथा चारों दिशाओं में, आगे, पीछे बाहर तथा भीतर-सर्वत्र चतुर्भुज श्रीहरि को देखने लगा।

न वेद किञ्चिद्बलिरन्यदेव
हरीतरज्ज्ञानविवर्तशून्यः ।
निमील्य नेत्रद्वयमन्तरस्थं
स पद्मनाभं निपपौ प्रकामम् ॥४७॥

श्रीहरि से व्यतिरिक्त ज्ञान के विवर्तों (अनुभवों) से शून्य बलि (नारायण से परे) और कुछ भी नहीं अनुभव कर सका। अपने नेत्रयुगल को बन्द कर हृदय में विराजमान पद्मनाभ (भगवान् विष्णु) को वह प्रकाम भाव से आस्वादित करने लगा।

मनस्समाधाय हृषीकवृन्दं
नियम्य योगीव तदेकबुद्धिः ।
बलिर्बलित्वं हरिपादपद्म-
द्वयार्पितं स्वानुभवेन मेने ॥४८॥

योगी के समान मन को समाहित करके, इन्द्रिय-समूह को नियंत्रित करके तथा बुद्धि को एकमात्र श्रीहरि में नियोजित करके बलि ने अपनी अनुभूति के बल पर अपने बलि होने के भाव को (अर्थात् स्वरूप को) श्रीहरि के चरणकमल-युगल में विलीन माना।

त्रिपदमितधरित्रीं वामनाय प्रदाय
स्वकुलकुलजकीर्तिं प्राक्तनीं लोकसिद्धाम् ।
स्वविनयनयदीप्यत्सत्यनिष्ठाञ्च रक्षन्
बलिरथ कुलजानां भाविभव्यं ततान ॥४९॥

अपने वंश तथा वंशजों की लोकप्रख्यात प्राचीन कीर्ति को तथा अपने विनय एवं नय से देदीप्यमान (अपनी) सत्यनिष्ठा की रक्षा करते हुए बलि ने, तीन डगों से नापने योग्य पृथ्वी को भगवान् वामन को अर्पित कर, अपने वंशजों के भावी कल्याण को विस्तारित कर दिया।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥५०॥

वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी जैसी अपनी कोख में, मौक्तिक के समान व्यक्तित्व वाले, कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया—देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के बीच मणि के समान वही राजेन्द्र मिश्र अपने हार्दिक परितोष के लिये, देववाणी के माध्यम से, भगवान् त्रिविक्रम (वामन) के निष्पाप यश का गायन कर रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥५१॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्ण-समूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा जिसका पवित्र फल है—वह निसर्गजात अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यतरु चिरञ्जीवी हो।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
बलिसंकल्पदृढत्वाभिध एकादशः सर्गः।

• •

# द्वादशः सर्गः

अथ त्रिपदमेदिनीमहितदानकृत्येऽखिले
प्रयाति चरितार्थतां लघवपुर्महावामनम् ।
अवर्धत शनैः शनैर्जनितकौतुकं पश्यतां
महत्किलमहत्तरं ननु महत्तमं व्योमगम् ।।१।।

इसके अनन्तर तीन पदन्यास (डग) के बराबर पृथ्वी से अलंकृत दानकर्म के पूर्णतः चरितार्थता को प्राप्त हो जाने पर वह लघु शरीर 'महावामन' (विराट पुरुष) बन कर, दर्शकों के कौतुक को जन्म देता हुआ धीरे-धीरे बढ़ने लगा । आकाश की ओर उठता (वह शरीर पहले तो) महान् बना, फिर महत्तर तथा (अन्ततः) महत्तम !

दधार हरिरद्भुतं विशदरूपमूर्ध्वायतं
धरावलयनीलखद्युविलमानपारातिगम् ।
हरौ स्वतनुमास्थिते किलकिलारवैश्चाम्बरं
व्यपूरि किल सर्वतः क्षितितलं चकम्पेऽक्रमम् ।।२।।

भगवान् श्रीहरि ने ऊर्ध्व एवं आयत, भूमण्डल-नीलाकाश तथा अन्तरिक्ष रूपी बिल (अवकाश) के विस्तार को भी अतिक्रान्त कर जाने वाले विलक्षण विशद रूप को धारण कर लिया । नारायण के महाविराट रूप में स्थित हो जाने पर आकाश-मण्डल चारों ओर से किलकिलाहट से परिपूर्ण हो उठा तथा धरामण्डल भी जहाँ-तहाँ कम्पित हो उठा ।

महाविकटभैरवं शतसहस्रभावाकुलं
धमत्पदयुगाऽहतिस्खलनभोरुदिग्बन्धनम् ।
विलोक्य मुमुहुर्जनाः प्रकृतवासनाविक्लवा-
स्तपस्विनिचयाः पुनर्हृदि सुखामृतं भेजिरे ।।३।।

महाविकट एवं भयावह, सैकड़ों-हजारों भावों (संकेतों) से ओतप्रोत तथा धमधमाते हुए चरणयुगल के प्रहार से दिशाओं के सन्धिबन्धों को टूटने से भयभीत बनाते (श्रीहरि के उस रूप को) देखकर जन्मजात वासनाओं से विकल लोग मूच्छित हो उठे परन्तु तपोधनियों की मण्डली हृदय में आनन्दामृत का अनुभव करने लगी।

त्रयीरहसि पारगास्सततशास्त्रचिन्तार्जित-
प्रकाशनवसम्बला ददृशुरुग्ररूपं हरेः ।
महामहिममण्डितं त्रिगुणभूषितं पण्डिता
अनन्तमुरुविक्रमं क्रमितसर्वमानं परम् ।।४।।

वेदत्रयी के रहस्यों में पारंगत, सतत शास्त्रचिन्तन से अर्जित प्रकाश (ज्ञान) रूपी नूतन सम्बल वाले पण्डितों ने श्रीहरि के उस उग्र (विराट) रूप को देखा जो महामहिमा से मण्डित, सत्त्व-रजस् एवं तमस् रूपी गुणत्रय से विभूषित, सीमारहित, महान् विक्रम से युक्त तथा समस्त प्रकार के मानों (नाप-तौल) को अतिक्रान्त कर देने वाला था।

तदङ्घ्रितलयुग्मके ननु रसातलं सप्तधा
महीममितविस्तरां युगलपादयोस्सन्नताम् ।
नभोलिहशिखाचलान् जरठजङ्घयोर्जानुनोः
पतत्रिनिचयं बुधाः परमविस्मिताः सन्दधुः ।।५।।

ऋषियों-महर्षियों ने विस्मयाभिभूत होकर उन (विराट) श्रीहरि के दोनों चरणतलों में सात प्रकार की[1] रसातलों को, दोनों चरणों के (अवकाश) बीच सन्नत अमित विस्तार वाली पृथ्वी को, सुदृढ़ जंघाओं में गगनचुम्बी शिखर वाले पर्वतों को तथा घुटनों में विहगमण्डली को देखा।

अथोरुयुगले हरेस्सगणमारुतं भैरवं
दुकूलपटसञ्चयेऽप्यरुणवर्णसन्ध्याच्छविम् ।

---

१. अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महीतल, पाताल।

नभोऽप्यधिकविस्तृतं पृथुगभीरनाभिस्थितं
ततश्च ददृशुर्बुधाः सकलसागरान्कुक्षिषु ॥६॥

श्रीहरि के ऊरु-युगल में उन्चास गणों से युक्त भैरव मारुत को, उत्तरीयवस्त्र-समूह में अरुणिम वर्ण वाली सान्ध्य छवि को, विशाल एवं गम्भीर नाभि में स्थित अत्यधिक विस्तृत आकाश को तथा उनकी कुक्षियों में समस्त सागरों को विद्वज्जनों ने देखा।

युग्मकम्

मनोज्ञवनमालिकां प्रपदगाञ्च वक्षःस्थले
हरेर्हृदयमन्दिरे महितधर्ममावेष्टितम्।
मृगाङ्कमपि मानसे स्तनयुगे च सत्यं ऋतं
कुशेशयकरां श्रियं पृथुलवक्षसि प्रेयसीम् ॥७॥

रमणीय वनराजियों को विराट श्रीहरि के प्रपद (पैर के अँगूठों) में, हृदय-मन्दिर में अनुस्यूत महनीय धर्म को वक्षःस्थल में, चन्द्रमा को मन में, सत्य एवं ऋत को स्तनयुगल में तथा हाथ में कमलपुष्प धारण करने वाली प्रियतमा लक्ष्मी को विस्तीर्ण वक्षस् पर।

भुजेषु ददृशुस्सुरान्नमुचिवृत्रवैर्यादिकान्
विपञ्चिलयसोदरान्मधुरसाममंत्रान् गले।
लसच्छ्रवणशष्कुलीयुगलके च काष्ठा दश
दिवञ्च हरिमस्तके ददृशुरध्वरे योगिनः ॥८॥

उस यज्ञवाट में योगियों ने (विराट) नारायण की भुजाओं में नमुचि तथा वृत्रासुर के विनाशक इन्द्रादि देवताओं को, कण्ठ में वीणा की लय के समान मधुर सामवेदीय मन्त्रों को, देदीप्यमान दोनों कर्णशष्कुलियों में दशों दिशाओं को तथा श्रीहरि के मस्तक पर स्थित स्वर्ग को देखा।

शिरोरुहकदम्बकेष्वगणितान् नदद्वारिदान्
प्रभञ्जनमपि स्थिरं विपुलनासिकारन्ध्रयोः ।
दुरन्ततरुणातपं प्रखरभास्करं नेत्रयो-
र्मुखे च ददृशुर्जना ननु हुताशनं भैरवम् ॥९॥

उपस्थित लोगों ने (विराट श्रीहरि के) केशसमूहों में गर्जना करते असंख्य वारिदों को, विशाल नासारन्ध्रों में सुस्थिर प्रभञ्जन (पवन) को, नेत्रयुगल में अन्तहीन तरुण आतप (ऊष्मा) वाले देदीप्यमान सूर्य को तथा मुखमण्डल में भयावह अग्नि को देखा ।

सन्दानितकम्

भ्रुवोर्विधिनिषेधकौ स्फुटदिनं निशां पक्ष्मसु
ललाटफलके स्थितं विततमन्युमुद्वेलितम् ।
मुखोच्चरितवैखरीघनचये चयं छन्दसां
मनोज्ञसुषमाधरे सदधरे च लोभं परम् ॥१०॥

(श्रीहरि के) भ्रूयुगल में विधि एवं निषेध को, पक्ष्मों में आलोकित दिवस एवं निशा को, ललाटफलक पर स्थित उद्वेलित (हलराते) भयावह क्रोध को, मुख से अभिव्यक्त वाणी के सघन-समूह में वेदमन्त्रों के समवाय को तथा मनोहर सुन्दरता को धारण करने वाले (उनके) श्रेष्ठ अधर पर सर्वातिशायी लोभ को (प्रतिष्ठित) ।

अनङ्गमतिमेदुरं चितिहरञ्च संस्पर्शणे
जलञ्च हरिरेतसि क्रमणसञ्चयेष्वध्वरम् ।
दुरन्तमरणं महापुरुषदेहछायास्वपि
स्मितेषु हसितेष्वहो हृदयहारि मायाबलम् ॥११॥

(श्रीहरि के) संस्पर्श में चेतना को अपहृत कर लेने वाले अत्यन्त बलशाली कन्दर्प को, वीर्य में जलराशि को, सञ्चरण-विधि में यज्ञ-प्रक्रिया को, विराट पुरुष के देह की परछाइयों में भयावह मृत्यु को तथा उनकी मुस्कानों तथा अट्टहासों में हृदयहारी मायाबल को ।

तनूरुहगणे विभोर्नतु वनौषधीनाञ्चयं
प्रवाहरयदारुणाः सुसरितोऽपि नाडीषु च ।
नखेषु वितताः शिलाः ददृशुरेव देवानृषीन्
विरञ्चिमपि पद्मजं विशदबुद्धितल्पे हरेः ।।१२।।

श्रीनारायण के रोम-समूहों मे वनौषधियों के विस्तार को, उनकी नाड़ियों में भी धारा के वेग से भयावह प्रतीत होने वाली श्रेष्ठ सरिताओं को, नाखूनों में चतुर्दिक् बिखरी शिलाओं को तथा उनके देदीप्यमान बुद्धि रूपी तल्प पर आसीन देवताओं, ऋषियों तथा कमलयोनि ब्रह्मा को (लोगों ने) देखा ।

चराचरमयञ्जगन्निखिलगात्रवल्लीचये
प्रसत्त्वपरिरम्भणे सकलभूतजातं तथा ।
विशालमखमण्डपे स्तिमितनेत्रका योगिन-
स्त्रिलोकविषयोच्चयं ददृशुरीश्वरे सर्वथा ।।१३।।

उस विशाल (अश्वमेध) यज्ञमण्डप में आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों वाले योगियों ने ईश्वर (विराट पुरुष) के सम्पूर्ण व्यक्तित्व-विस्तार में चर एवं अचर प्राणियों से ओतप्रोत जगत् को, उनके प्रकृष्ट आत्मबल के अस्तित्व में समस्त प्राणिसमूह को तथा लोकत्रय के समस्त विषयों (उपादानों) को भलीभाँति देखा ।

ततस्स्वयमुपस्थिता निखिलपार्षदाः श्रीपते-
स्सुनन्दगरुडादयो निखिलमायुधं भास्वरम् ।
रराज धृतभूषणश्रितभुजाङ्गदो वक्षसि
समाकलितकौस्तुभो मकरकुण्डलश्श्रोत्रयोः ।।१४।।

तदनन्तर सुनन्द तथा गरुड आदि भगवान् विष्णु के समस्त पार्षद-गण वहाँ स्वयं उपस्थित हो गये । देदीप्यमान समस्त आयुध (नन्दक, कौमोदकी आदि) भी आ गये । भुजाओं में अगंद (भुजबन्द) पहन कर, वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि को अधिष्ठित कर तथा कानों में मकराकृति कुण्डल धारण कर (इस प्रकार) समस्त भूषणों से भूषित श्रीहरि शोभायमान हो उठे ।

युग्मकम्

धनुर्जलदगर्जितं प्रथितधाम शाङ्‌र्गाभिधं
महाद्युति सुदर्शनाभिधमकुण्ठचक्रञ्च तत् ।
शतेन्दुमहितोऽप्यसी रिपुवधक्षमो नन्दको
गदाऽपि च तरस्विनी मणिमयी तु कौमोदकी ॥१५॥

मेघ-गर्जन के समान टंकार वाला शार्ङ्ग नामक प्रख्यात तेजस्विता वाला धनुष, महाद्युति-सम्पन्न सुदर्शन नामक वह अमोघ चक्र, शत्रुवध के लिये सामर्थ्य (उपाय) को धारण करने वाला, सैकड़ों चन्द्रों के समान प्रकाशमान नन्दक-खड्ग तथा तीव्र गति वाली मणिमयी कौमोदकी नामक गदा ।

युगान्तघनवारिदप्रकटचण्डघोषं दधद्
रराज धवलद्युतिर्जलजपाञ्चजन्यः करे ।
महाविभवसम्मतस्त्रिभुवनैकमात्राश्रयो
विराट्पुरुष उद्गतो दनुजभीतिसंसर्जकः ॥१६॥

महाप्रलयकालीन घनघटा के जोरदार प्रचण्ड घोष को धारण करने वाला, धवल कान्ति युक्त तथा सागर-जल से उत्पन्न होने वाला पाञ्चजन्य (नामक) शंख भगवान् विष्णु के हाथ में विराजमान हो उठा । इस प्रकार दानवों को भयभीत करने वाले, महान् ऐश्वर्यों से मण्डित-त्रैलोक्य के एकमात्र अवलम्ब विराट पुरुष प्रकट हो गये ।

समग्रवसुधां बलेः किल विचक्रमे केशवः
पदेन विततेन तां गगनमात्मदेहेन च ।
दिशश्च निजबाहुभिर्निखिलमन्तरिक्षं प्रभु-
र्द्वितीयचरणेन तत्सहजमेव पूर्णम्ममे ॥१७॥

केशव (विष्णु) ने बलि की सम्पूर्ण (साम्राज्य) भूमि को प्रसारित किये गये पदन्यास (डग) से आक्रान्त कर लिया । आकाशमण्डल को अपनी काया से, दिशाओं

को अपनी भुजाओं से तथा सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को श्रीहरि ने बड़ी सरलता से अपने दूसरे चरण से भरपूर नाप लिया।

उपर्युपरि तत्पदं सपदि वर्धमानं हरे-
र्महर्जनतपःप्रभृत्यखिललोकविस्तारणम्।
अतीत्य शुशुभेऽचिरं विशदसत्यलोके यदा
समीक्ष्य चतुराननो हृदि परं विनोदङ्गतः ॥१८॥

श्रीहरि का वह चरण, वेगपूर्वक उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ता हुआ—महर्लोक-जनलोक तथा तपोलोकप्रभृति समस्त लोकों के विस्तार को अतिक्रान्त कर, जब देखते ही देखते प्रकाशमान सत्यलोक में सुशोभित हो उठा तब उसे देखकर चतुरानन (ब्रह्मा) मन ही मन अतिशय आनन्दमग्न हो उठे।

कमण्डलुजलेन तच्चरणमर्चयित्वा विधि-
र्मुमोच सलिलं शिवं विबुधसिन्धुभूतं त्वधः।
ससार किल नाकिनां हृदयपावनी स्वर्धुनी
ततश्च भुवमागता कलुषहारिणी जाह्नवी ॥१९॥

अपने कमण्डलु के जल से उस चरण को प्रक्षालित कर विधाता ने देवनदी गंगा के रूप में परिणत, वह पवित्र जल नीचे गिरा दिया जिससे स्वर्ग-निवासियों के हृदय को पवित्र करने वाली स्वर्धुनी (गंगा) समुद्भूत हुई और वहाँ से पापापनोदिनी जाह्नवी के रूप में धराधाम पर अवतरित हुई।

जुघोष विजयोत्सवं सकलदिक्षु भेरीरवैः
प्रभञ्जनगतिर्मुदा सुभग ऋक्षपो जाम्बवान्।
ततश्च पणवानकैर्मुरजवेणुशंखादिभि-
र्व्यपूरि विवरं महत् स्तवननर्तनोद्गायनैः ॥२०॥

प्रभञ्जन (वायु) जैसी गति वाले, श्रेष्ठ ऋक्षपति जाम्बवान् ने प्रसन्नतापूर्वक (भगवान् वामन के) विजयमहोत्सव को, भेरी की ध्वनि से, समस्त दिशाओं में घोषित

किया। उसके अनन्तर (पृथ्वी एवं आकाश का) विशाल अन्तराल ढोल, नगाड़े, मृदंग, वंशी तथा शंख (आदि की ध्वनि) से तथा स्तुतियों, नृत्यों एवं उच्च गायनों से परिपूर्ण हो उठा।

महीमखिलविस्तरां त्रिपददानयाच्ञाछलै-
र्हृतां विबुधभूतये समवलोक्य दर्पोद्धताः।
महास्तनितभैरवा विकटरोषरक्तेक्षणा
निहन्तुमथ दानवा उपययुर्वटुं वामनम् ॥२१॥

मात्र तीन डग के बराबर दान माँगने के छल-छद्म द्वारा सम्पूर्ण विस्तार वाली पृथ्वी को, देवकल्याणार्थ, अपहृत की गई देख—दर्प से उद्धत, सिंहनाद के कारण भयावह प्रतीत होने वाले, विकट रोष के कारण रक्तरंजित नेत्रों वाले दानवगण ब्रह्मचारी वामन को तब मारने के लिये आगे बढ़े।

गदापरिघतोमरत्रिशिखभिन्दिपालाङ्कुश-
कृपाणविततोल्मुकक्रकचखड्गपाशेषुभिः ।
प्रहर्तुमखिलेश्वरं जडधियोऽभियो दानवा
मुमूर्षुशलभप्रभा अथ पुरोऽभिजग्मुर्द्रुतम् ॥२२॥

तदनन्तर गदा, परिघ (लाठी) तोमर, त्रिशूल, भिन्दिपाल, अंकुश, कृपाण, भयावह उलमुक (मशाल) आरी, तलवार, पाश (फन्दा) तथा बाणों द्वारा सर्वेश्वर भगवान् वामन को प्रहृत करने के उद्देश्य से कुन्द बुद्धि वाले—मुमूर्षु एवं शलभ आदि निर्भय दानवगण वेगपूर्वक अग्रसर हुए।

ततस्तु विजयो जयो गरुडपुष्पदन्तौ बलो
जयन्तकुमुदौ च तौ प्रबलनन्वसौनन्दकाः।
रमारमणपार्षदा झटिति जघ्नुरुग्रां चमूं
महागजबलोन्मदाः प्रथितविक्रमा आसुरीम् ॥२३॥

तब जय-विजय-गरुड-पुष्पदन्त-बल-जयन्त-कुमुद-नन्द तथा सौनन्दक नामक प्रख्यात पराक्रम वाले, महागज के समान बलोन्मद रमारमण (विष्णु) के पार्षदगणों ने क्षण भर में ही, उस भयावह आसुरी सेना को तहस-नहस कर दिया ।

विलोक्य निजसैनिकान् प्रमथितान् महासमरे
त्रिलोकपतिपार्षदैः प्रकृतिदुर्मदान् दारुणान् ।
निमित्तमनुभूय च स्वयमुवाच वैरोचनिः
कृतं नु मम यूथपा अलमलं मुधा विक्रमैः ।।२४।।

त्रिलोकपति (भगवान् विष्णु) के पार्षदों द्वारा स्वभावतः दुर्मद तथा भयावह अपने सैनिकों को महासमर में प्रमथित देखकर, निमित्त (शकुन) का अनुभव कर विरोचनपुत्र बलि ने स्वयं कहा—मेरे यूथपतियो ! शान्त हो जाओ ! व्यर्थ पराक्रम से कोई लाभ नहीं ।

त्रिलोकविजिगीषवः विबुधसैन्यविध्वंसकाः
अलं किल रणोद्यमैरलमलं मुधा ताण्डवैः ।
प्रिया मम सहोदराः शृणुत विप्रचित्त्यादिकाः
सुखोदयविपर्यये ननु निरर्थकं योधनम् ।२५।।

तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने वाले, देव-सेनाओं को विध्वस्त कर देने वाले वीरो ! रणोद्यम से कोई लाभ नहीं । व्यर्थ के ताण्डव (नाचकूद) से भी क्या होगा ? विप्रचित्तिप्रभृति हे मेरे प्रिय सहोदरो ! सुनो । सुखोदय कीं विपरीत वेला में युद्ध करने का कोई अर्थ नहीं है ।

इमे न कतिधा जिता अमरलोकपालास्त्वया
न कोऽपि समरे पुरा क्षणमपि स्थिरोऽदृश्यत ।
परन्तु परमेश्वरे निखिललोकसन्धारके
गते नु विपरीततां युधि जयन्ति ते साम्प्रतम् ।।२६।।

ये लोकपाल देवगण (इन्द्र, वरुणादि) तुम्हारे द्वारा कितनी ही बार नहीं जीते गये हैं ? प्राचीन काल में कोई भी (एक) क्षण भर के लिये भी सामने स्थिर

नहीं दिखाई पड़ा। परन्तु समस्त लोकों को सम्यक् रूप से धारण करने वाले परमेश्वर के प्रतिकूल हो जाने पर, अब वे (ही) युद्ध में विजय प्राप्त कर रहे हैं।

अतो विशत सोदरा मम रसातलं भूतये
स्वभाग्यदिवसोदयं प्रति निकामबद्धादराः।
क्रमो हि सुखदुःखयोर्नियतमेव कर्मार्जितो
न रात्रिदिवसक्रमं रविरपि क्षमो लङ्घितुम् ॥२७॥

अतएव अपने भाग्य-दिवस के पुनरभ्युदय के प्रति परिपूर्ण रूप से आश्वस्त मेरे बन्धुओं! कल्याणार्थ रसातल में प्रविष्ट हो जाओ। सुख एवं दुःख का पर्याय तो निश्चय ही अपने ही कर्मों का फल है। रात्रि तथा दिवस-क्रम का अतिक्रमण कर पाने में सूर्य भी समर्थ नहीं।

प्रवातशतसङ्कटेऽप्यचलतां परामुद्वहन्
महाशिखरभूधरोऽप्यगणितौषधीनां श्रयः।
शिलीन्ध्र इव कम्पतेऽवनितले स्वयं वेपिते
विहाय परमेश्वरं जगति सर्वमेवास्थिरम् ॥२८॥

सैकड़ों तूफानों के संकटों में पराकाष्ठागत स्थिरता को धारण करने वाला, असंख्य औषधियों का आश्रयभूत, विशाल शिखर वाला पर्वत—स्वयं भूमि के कम्पित होने पर कुकुरमुत्ते की तरह काँपने लगता है। एक परमात्मा को छोड़ कर संसार में सब कुछ अस्थिर (ही) है।

निशम्य बलिवाचिकं करुणभावविद्धान्तरं
विलोक्य च पराभवं दनुजवंशभानोस्तथा।
दनूजपृतनाधिपाः समरविक्रमोपेक्षिणो
रसान्तनिलयङ्गता विबुधभर्त्सितास्तत्क्षणम् ॥२९॥

करुणा की भावना से अनुस्यूत मर्म वाले राजा बलि के वचनों को सुनकर तथा दनुजवंश के सूर्यस्वरूप बलि का पराभव देख कर, देवताओं द्वारा भर्त्सित किये

गये दानवसेनाधिपति युद्धोचित-पराक्रम की उपेक्षा करके, तत्काल ही रसातल-लोक की ओर प्रस्थित हो गये ।

बबन्ध गरुडस्ततो हरिचिकीर्षितप्रेरितो
विरोचनसुतं बलिं सुदृढपाशकैर्वारुणैः ।
निबद्धमवलोक्य तं स्थिरमतिं बलिं भास्वरं
ससार ननु सर्वतोदिशमपारहाहाकृतम् ॥३०॥

उसके अनन्तर श्रीहरि की भावी आकांक्षा से प्रेरित गरुड ने विरोचनपुत्र बलि को अत्यन्त दृढ़ वरुणपाशों से संयत कर दिया । देदीप्यमान तथा स्थिरबुद्धि उस राजा बलि को बाँधा गया देखकर, सारी दिशाओं में अपार हाहाकार मच गया ।

जगाद नृपतिं हरिस्त्रिपदभूमिरङ्गीकृता
त्वया दनुजभूपते ! न खलु दीयते साऽधुना ।
महीतलमिदम्मया तव मितं द्युलोकोऽपि च
तृतीयमुपकल्पय द्वितयविक्रमाभ्यां बले !!३१॥

भगवान् वामन ने राजा से कहा—हे दैत्यपते ! तीन डग के बराबर भूमि (का दान) तुम्हारे द्वारा स्वीकार किया गया था और सम्प्रति वही तुम्हारे द्वारा नहीं दिया जा रहा है । हे बलि ! दो ही पदन्यासों द्वारा मैंने तुम्हारा यह महीतल (साम्राज्य) तथा द्युलोक भी नाप लिया है । तीसरे डग (के लिये दान) को प्रस्तुत करो ।

त्वयाऽहमधरीकृतस्सपदि याचमानो धरां
मृषाशपथकारिणा धनदमानिना साम्प्रतम् ।
व्यलीकवचसां फलं किमपि भुङ्क्ष्व मोघार्जव-
स्ततो निरयमाविश त्वमिह भार्गवप्रेरितः ॥३२॥

झूठी सौगन्ध खाने वाले तथा स्वयं को राजराज कुबेर समझने वाले तुम्हारे द्वारा, पृथ्वी (दान) की याचना करने वाला मैं इस समय, क्षणभर में ही तुच्छ बना दिया गया हूँ। इसलिये हे मोघार्जव! (कृत्रिम ऋजुता वाले) अपनी झूठी वचनबद्धता का कुछ तो फल भोगो और भार्गव (शुक्राचार्य) द्वारा प्रेरित निरय (नरक) के भागीदार बनो।

मृषावचनवैभवैश्छलयतेऽर्थिनं याचकं
यशोऽधिगमलोलुपो वितथसत्क्रियो योऽधिपः।
बले! निरयमश्नुते नियतमेव दात्रीश्वरः
प्रयाचकमनोरथव्रततिमूलविध्वंसकः ॥३३॥

यशः प्राप्ति का लोभी तथा झूठा सत्कार करने वाला जो नरपति असत्य वचनों के अम्बार से अर्थापेक्षी याचक को प्रवंचित करता है, हे दैत्यपते! प्रयाचक की मनोरथरूपी लता की जड़ को काटने वाला, दानियों में शिरोमणिभूत वह व्यक्ति निश्चय ही पतन को प्राप्त करता है।

इति निगदति विष्णौ वैष्णवो दैत्यभूपः
स्थिरमतिरविषण्णोऽविक्लवां वाचमूचे।
यदि मदुदितवाणीं मन्यतेऽद्धा व्यलीकां
शिरसि खलु तृतीयं नाथ! पादं निधेहि ॥३४॥

भगवान् विष्णु के ऐसा कहने पर स्थिर बुद्धि वाले, विषादहीन तथा विष्णुभक्त दैत्यराज बलि ने विकलता-विहीन वाणी कही—हे प्रभो! यदि मेरे द्वारा कही गई बात को (शपथ को) आप झूठी मानते हैं तो फिर (अपना) तीसरा चरण मेरे शीश पर स्थापित कर दीजिये।

व्यसननिरयपाशस्थानमानच्युतिभ्यो
न खलु परिभवेभ्यो देव! किञ्चिद्विभेमि।
न च विभवविनाशान्निग्रहाच्चापि नो ते
परमिह जनमध्येऽसाधुवादाद्विभेमि ॥३५॥

हे देव ! मैं निरय (नरक) विपत्ति, पाशबन्धन, स्थानच्युति तथा मानभ्रंश से अथवा (नानाविध) परिभवों से तनिक भी नहीं डरता । मैं ऐश्वर्य के विनाश से तथा (अपने) निग्रह से भी भयभीत नहीं । परन्तु इस संसार में जनसमूह के बीच असाधुवाद (लोकनिन्दा) से (अवश्य) डरता हूँ ।

त्रिपदमितधरित्रीदानसंकल्पना मे
न भवतु वितथाऽसौ येन तद्देव ! कार्यम् ।
पदमिदमिह शीर्षे सन्नतस्य प्रभो ! मे
असुरसुरसमर्च्यं स्थापनीयं तृतीयम् ।।३६।।

तीन डग के बराबर पृथ्वी को दान देने का मेरा संकल्प जिस प्रकार झूठा न सिद्ध हो, हे प्रभो ! वही कीजिये । हे स्वामी ! (आपके समक्ष) सम्यक् रूप से अवनत मेरे मस्तक पर आप असुरों एवं सुरों द्वारा समर्चनीय अपने तीसरे चरण को स्थापित करिये ।

एकेन नाथ ! धरणीं चरणेन मित्वा-
प्याकाशमात्मवपुषा स्फुटमन्तरिक्षम् ।
मित्वा द्वितीयचरणेन पदं विशिष्टं
शीर्षे निधाय मम पावय तत्तृतीयम् ।।३७।।

हे नाथ ! एक चरण से (सम्पूर्ण) पृथ्वी को, अपनी काया (के विस्तार) से आकाश को तथा दूसरे चरण (पदन्यास) से विशिष्ट लोक प्रकाशमान अन्तरिक्ष को नाप कर उस (पुराणप्रसिद्ध) तीसरे चरण को मेरे शीर्ष पर स्थापित कर मुझे पवित्र कर दीजिये ।

एवं निगद्य वचनं वचनीयमुक्तं
श्रद्धाविमन्थरतनुर्बलिरात्मनिष्ठः ।
विष्णौ समर्पितनिजाखिलचित्तवृत्ति-
स्तस्थौ पदाम्बुजयुगे प्रणिधाय कायम् ।।३८।।

श्रद्धाभिभूत काया वाले आत्मनिष्ठ बलि ने इस प्रकार, निर्दोष वचन व्यक्त करके अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति को नारायण में समाहित कर, उनके चरणकमल-युगल में अपनी काया को अर्पित कर दिया।

यत्पदं सम्पदां मूलं यत्पदञ्च निरापदम्।
तत्पदं देव! मच्छीर्षे संस्थापय सुखावहम् ॥३९॥

(चरणार्पित बलि ने कहा—) जो चरण ऐश्वर्यों का मूल है, जो चरण आपदाओं से मुक्त है हे देव! वह सौख्यनिधानभूत पद (आप) मेरे शीश पर सम्यक् रूप से स्थापित कीजिये।

दिव्यपार्थिवभोगानां यत्पदं परमास्पदम्।
तत्पदं कुरु मे देव! मस्तके महितोदये ॥४०॥

दिव्य तथा पार्थिव अर्थात् अलौकिक तथा लौकिक भोगों का जो चरण श्रेष्ठ आस्पद है हे देव! उस चरण को परमसौभाग्य-भाजन मेरे मस्तक पर रखिये।

यत्पादनखरज्योतिर्नितरां भास्करायते।
शीर्षे निधेहि तं पादं पद्मनाभ! समीहितम् ॥४१॥

जिन चरणों के नखों की ज्योति निरन्तर भास्कर सरीखी दृष्टिगोचर होती है हे पद्मनाभ! उस मनोवांछित चरण को मेरे शीर्ष पर स्थापित करिये।

यत्पदं हृदि संस्थाप्य धन्यो मम पितामहः।
तेन धन्यतरं नाथ! कुरु संस्थाप्य शीर्षके ॥४२॥

जिस चरण को हृदय (मन्दिर) में स्थापित कर मेरे पितामह (प्रह्लाद) कृतार्थ हो उठे थे, मेरे शीर्ष पर स्थापित करके हे नाथ! उसी चरण से मुझे और अधिक भाग्यशाली बना दीजिये।

कृपासौदामिनी देव ! नीलमेघप्रभस्य ते ।
प्रकाशयेन्मनो मेऽद्य दिव्यपादावरोहिणी ।।४३।।

हे देव ! दिव्यचरणों से नीचे उतरने वाली, नील जलद के समान आपकी कृपा रूपी विद्युल्लता आज मेरे (अज्ञानग्रस्त) मन को प्रकाशित कर दे ।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽऽनघम् ।।४४।।

वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी जैसी अपनी कोख में मोती के समान शरीर वाले, कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया—देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के बीच मणिकल्प वही राजेन्द्र मिश्र अपनी हृत्तुष्टि के लिये, देववाणी (संस्कृत) में भगवान् वामन के निष्पाप यश का गान कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५४।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णजाल है, विल्हण की सूक्तियाँ पुष्पसमूह है तथा श्रीमान् पण्डितराज के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—वह निसर्गजात अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यतरु चिरजीवी हो ।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
वामनविश्वरूपताभिधो द्वादशः सर्गः ।

• •

# त्रयोदशः सर्गः

**सदयमुवाच विरोचनतनुजो हरिचरणाम्बुजलीनः।**
**भागवताऽमृतजलधिसन्तरणविहरणपटुपाठीनः ।।१।।**

भगवत्तत्त्वरूपी अमृत के सागर में सन्तरण एवं विहार करने में चतुर महामत्स्य के समान तथा श्रीहरि के चरणकमल में लीन विरोचनपुत्र बलि ने कहा।

**युग्मकम्**

**अच्युत ! केशव ! मनसिजसुन्दर ! नीलबलाहककाय !**
**त्रिभुवनविवरनिरन्तरसुयशाः श्रितमायोऽप्यतिमाय !!२।।**

हे अच्युत ! हे केशव ! हे कन्दर्पसुन्दर ! हे नीलमेघ के समान काया वाले ! त्रिभुवनरूपी विवर (अवकाश, रिक्तस्थान) में धनीभूत सत्कीर्ति वाले, मायाश्रित अर्थात् माया से सृष्टि-रचना करते हुए भी, माया से अप्रभावित !

**निखिलचराचरभुवनविनिर्मितिसंघटनाद्भुतदक्ष !**
**अदितिजदितिजसमन्वितसम्बल ! परमेश्वर मां रक्ष !!३।।**

चर (जंगम) तथा अचर (स्थावर) से युक्त सम्पूर्ण (चतुर्दश) भुवनों की सृष्टिरचना में विलक्षण दक्षता रखने वाले, देवताओं तथा दानवों—दोनों के समर्चित आधारभूत हे परमेश्वर ! मेरी रक्षा कीजिए।

**ननु जानामि ममोद्धरणाय समायातोऽसि दयालो !**
**चरणकमलपतितं मामुद्धर सम्प्रति परमकृपालो !!४।।**

हे दयामय ! मैं जानता हूँ कि आप मेरे ही सम्यक् उद्धार के लिए (धराधाम पर) अवतीर्ण हुए हैं (इसलिए) अब चरण-कमल में अवनत मुझे हे परम कृपालु ! उद्धृत कीजिए।

ननु वामनमर्थिनं भवन्तं विज्ञायैव मदान्धः ।
त्रिपदधरित्रीदानं प्रददे राज्यैश्वर्यदिवान्धः ॥५॥

निश्चय ही राज्य-वैभव रूपी दिवान्धता रोग से ग्रस्त मदान्ध मैंने आपको (एक साधारण) वामन याचक जान कर ही तीन डग के बराबर पृथ्वी का दान दिया (इस भ्रम में कि यह बौना भला कितनी जमीन ले सकेगा )?

किन्तु यदा गुरुणा प्रभाषितं विशदं तव स्वरूपम् ।
देव ! तदा मम मनसि समुदितं वन्द्यपितामहरूपम् ।।६।।

परन्तु जब मेरे गुरुवर्य (भगवान् शुक्राचार्य) द्वारा आपका प्राञ्जल स्वरूप मुझे बताया गया हे देव ! तब मेरे मन में (अपने) वन्दनीय पितामह (महाभागवत प्रह् लाद) का रूप उभर आया ।

जानन्नपि निजदानपरिणतिं निजवैभवसंहारम् ।
नाकरवं हे त्रिभुवननायक ! संकल्पितपरिहारम् ।।७।।

हे त्रिभुवननायक ! तब अपने दान देने का परिणाम, अपने राज्यैश्वर्य का संहार जानते हुए भी मैंने अपने पूर्वसंकल्पित दान का परिहार (निषेध) नहीं किया ।

सुखवैभवसाम्राज्यकदम्बकदाता त्वमसि न चान्यः ।
त्वं याचकस्त्वमेव हि दानं प्रभो ! त्वमेव वदान्यः ।।८।।

(क्योंकि) हे प्रभो ! सुख, वैभव, साम्राज्य-परम्परा को देने वाले आप ही हैं—कोई और नहीं । हे स्वामी ! आप ही याचक हैं , आप ही याचित वस्तु (दान) भी हैं और देने वाले भी आप ही हैं ।

तुभ्यं देव ! समर्प्य तावकीं न्यासीकृतां विभूतिम् ।
अद्याहं जातोऽस्मि निर्भयो लब्ध्वा सहजसुकीर्तिम् ॥९॥

हे देव ! आप द्वारा अपने पास धरोहर रखी इस (साम्राज्य) विभूति को आपको ही समर्पित कर, सहज (विना परिश्रम) सत्कीर्ति प्राप्त कर, आज मैं निर्भय हो गया हूँ ।

यदभून्नाथ ! भवत्परिचयने समधिकतरो विलम्बः ।
अज्ञानं मम तत्र कारणं क्षन्तव्योऽनवलम्बः ॥१०॥

हे नाथ ! आपको पहचान पाने में जो बहुत अधिक विलम्ब हो गया उसका कारण है—मेरा अज्ञान ! आश्रय-विहीन (असहाय) मैं क्षमा करने योग्य हूँ ।

विविधयोनिसंसरणवासनाविस्मृतशिवस्वरूपः ।
प्रत्यभिजानीयात्खलु जीवः कथं भवन्तमरूपः ॥११॥

नाना प्रकार की योनियों में संसरण करने से प्राप्त (तत्तत्) वासनाओं से जो अपना शिव-स्वरूप (अहं ब्रह्मास्मि) भूल बैठा है वह रूपविहीन जीव भला आपको कैसे पहचान सकता है ?

विस्मृततत्तो जरामरणभवबन्धनचयानुरोधैः ।
जीवः परिरक्षितेदन्तको निहतो मलावरोधैः ॥१२॥

जरा (वार्द्धक्य) मरण एवं भव (जन्म) रूपी बन्धन समूहों के अनुरोधवश (अर्थात् प्रभाववश) जिसको अपनी 'तत्ता' (तत्-ता अर्थात् परमार्थतः परमात्मस्वरूप होने का भाव) विस्मृत हो चुकी है वह जीव (प्राणी) अपनी 'इदन्ता' (वर्तमान जन्म के स्वरूप) को सँभालने में ही विपर्यस्त अज्ञान के अवरोधों से निहत (निरूपाय) हो उठा है ।

युग्मकम्

त्वत्कृपयैव विनश्यति यावन्मध्येतत्तेदन्तम् ।
कर्मवासनामलावरोधस्तीर्त्वा तमो दुरन्तम् ॥१३॥

तत्ता और इदन्ता के बीच में ही, जब आपकी कृपा से, दुरन्त अज्ञानान्धकार को पार कर उसकी कर्मवासनाओं तथा मलों का अवरोध पूर्णतः नष्ट हो जाता है ।

स्फुटं तदा पश्यति जीवोऽयं निहितं त्वय्यात्मानम् ।
निर्विकारमप्रतिममनन्तं विशदं परमात्मानम् ॥१४॥

तब यह जीव सुस्पष्ट रूप से अपने को आप में समाया हुआ देखता है— सत्व, रजस् तथा तमस् रूपी विकारत्रय से विहीन, अप्रतिम, अनन्त, प्रकाशमान (अज्ञानमुक्त) तथा परमात्मस्वरूप !

तत्सर्वं जायते सम्भवं त्वत्कृपयैव परेश !
त्वच्चरणेन्दीवरमधुव्रतस्ततोऽहमस्मि भवेश !!१५॥

हे परेश ! वह सब भी आपकी कृपा से ही सम्भव हो पाता है । इसीलिए हे सिरजनहार ! मैं आपके चरण-कमलों (में लीन) भ्रमर बन गया हूँ ।

पितामहो भवदेकसम्मतः प्रह्लादोऽसुरराजः ।
अभवत्तव पदपद्ममाधुरीरसिकोत्तमोऽलिराजः ॥१६॥

मेरे पितामह असुरराज प्रह्लाद एकमात्र आपमें ही आस्था रखने वाले थे । वह आपके चरण-कमल (मदिरा) की मिठास का रसपान करने वाले श्रेष्ठ भृङ्गनायक थे ।

तातो मम देवार्पितदेहो विमलविरोचननामा ।
अभवद्भूमितले गुणसिन्धो ! भागवतामृतधामा ॥१७॥

निष्कलंक विरोचन नाम वाले तथा देवताओं को (अपनी) देह तक अर्पित कर देने वाले मेरे पिताश्री भी हे गुणसागर ! इस धरामण्डल में भगवद्भक्ति रूपी अमृत के भण्डारभूत थे।

**तत्तनुजोऽहमुत्पथः किञ्चिद् राजैश्वर्यनिलीनः।**
**प्रसभं किन्तु कृतोऽहमिदानीं विधिना त्वत्पदलीनः ॥१८॥**

साम्राज्य के ऐश्वर्य में डूबा उनका पुत्र मैं ही कुछ उत्पथ (अपनी कुलक्रमागत भगवद्भक्ति-परम्परा से च्युत) हो चला था। परन्तु विधाता ने सम्प्रति मुझे वेगपूर्वक आपके श्रीचरणों में केन्द्रित कर दिया है।

**हृतवैभवोऽपि सम्प्रति विभवं यं प्राप्तोऽस्मि महार्घम्।**
**तेनाऽहं धन्योऽस्मि साम्प्रतं मन्ये परं परार्घ्यम् ॥१९॥**

राज्यैश्वर्य से च्युत होते हुए भी इस समय मैंने जो बहुमूल्य वैभव प्राप्त कर लिया है उसमें मैं इस समय स्वयं को लाखों-करोड़ों के बीच धन्य मानता हूँ।

**यो विजहात्यन्ततश्शरीरं किमात्मना ननु तेन ?**
**रिक्थहारिणा किञ्च भूतले दस्युनिभस्वजनेन ??२०॥**

जो अन्ततः (मृत्युवेला में) शरीर को भी (अर्थात् आश्रय को भी) छोड़ देता है उन प्राणों से भला क्या लाभ ? और इस संसार में जो धन-ऐश्वर्य के भोक्ता भागीदार हैं—दस्यु सरीखे उन स्वजनों से भी क्या लाभ ?

**संसृतिहेतुभूतया भगवन् ! किं भार्यया भवेऽस्मिन् ?**
**गेहैश्चापि को नु खलु लाभः किन्नु सुखं बन्धेऽस्मिन् ??२१॥**

हे भगवन् ! इस संसार में जो संसरण (बार-बार जन्म लेने) का कारणभूत है उस भार्या (रमणी) से क्या ? भवनादि से भी भला क्या लाभ ? इस बन्धन में कौन सुख है ?

इति निश्चित्य मनसि दुर्ज्ञेयं मम पितामहो भावम् ।
शैशव एव ववार निरीहो विष्णुचरणसद्भावम् ।।२२।।

कठिनाई से समझ में आने योग्य इन्हीं तथ्यों को मन में समाहित कर, आकांक्षा-विहीन हुए मेरे पितामह ने बचपन में ही भगवान् विष्णु के चरणों का आश्रय वरण कर लिया था ।

अकुतोभयो बभूव नितान्तं भागवतः प्रह्लादः ।
त्वन्मय एव चचार सर्वदा वर्धितहृदयाह्लादः ।।२३।।

भगवद्भक्ति में डूबे वह (महात्मा) प्रह्लाद पूर्णतः अकुतोभय बन गये थे । सारे संसार को नारायणमय ही देखते हुए, हृदय के आह्लाद से ओतप्रोत वह सदैव (मुक्तभाव से) सञ्चरण किया करते थे ।

प्रसृता खलु तत एव कुटुम्बे मम भागवतीचर्या ।
परमवैष्णवी सत्त्वमयी सा लक्ष्मीरमणसपर्या ।।२४।।

मेरे कुटुम्ब में, उन्हीं द्वारा प्रवर्तित भागवती-चर्या (भगवद्भक्ति) चली आ रही है जो परम वैष्णवी, सात्त्विकता से युक्त तथा लक्ष्मीरमण भगवान् विष्णु की उपासना से अलंकृत है ।

वारुणपाशयंत्रितो भवता कामं निजापराधैः ।
परमविमुक्तस्तदपि मानसे सुखैर्युतो गतबाधैः ।।२५।।

भले ही मैं अपने (राजमद) अपराधों के कारण आप द्वारा भगवान् वरुण के पाशों द्वारा बांध लिया गया हूँ परन्तु अन्तःकरण में तो निर्बाध सुखों से आप्यायित हुआ मैं परम विमुक्त (अनुभव कर रहा) हूँ ।

दण्डयितुं मामसुरभूभुजं वृतः कियानायासः ।
वामनत्वमुपययौ भवान् यन्न्यक्कृतवसुधाकाशः ।।२६।।

मुझ जैसे दैत्यनरेश को दण्ड देने के लिये (आपको) कितना कष्ट स्वीकार करना पड़ा ? जो कि धरती एवं आकाश को (भी स्वयं से) छोटा सिद्ध करते हुये आपको 'वामनत्व' (बौनापन) धारण करना पड़ा ।

स्मारं स्मारं खलु तत्सर्वं मन्दाक्षं ह्युपयामि ।
कमलविलोचन ! वारं वारं विनतोऽहं प्रणमामि ॥२७॥

वह सब वार-वार स्मरण करके मैं लज्जा को प्राप्त हो रहा हूँ । हे कमल-नयन ! मैं विनत होकर वार-वार (आपको) प्रणाम कर रहा हूँ ।

नयनयुगलसलिलार्चिततावकचरणपङ्कजो धन्यः ।
को नु भवेदिह पृथुलेऽनेहसि सम्प्रति देव ! मदन्यः ??२८॥

नेत्रयुगल के जल (अश्रु) से आपके चरण-कमलों की अर्चना करने वाला सौभाग्यशाली व्यक्ति, इस विशाल संसार में हे स्वामी ! इस समय मेरे अतिरिक्त भला और कौन है ?

नारायण ! जगदीश्वर ! केशव ! माधव ! सुविनतबन्धो !
अशरणशरण ! विलोकय कृपया मामिह करुणासिन्धो !!२९॥

हे नारायण ! हे जगदीश्वर ! हे केशव ! हे माधव ! हे अतिशय विनतजनों के बन्धु ! हे अशरणों के शरण ! हे करुणासागर ! सम्प्रति मुझ (असहाय) को कृपा-पूर्वक देखिये ।

अतलवितलसुतलेषु मे भवेद्रसातले पाताले ।
तलातलेऽथ निवासो भगवन् ! भवदिष्टे श्रितव्याले !!३०॥

हे भगवन् ! आप द्वारा आदिष्ट, नागों से ओतप्रोत अतल, वितल, सुतल, रसातल, पाताल अथवा तलातल—किसी भी लोक में मेरा निवास हो ।

स्वर्गसुखं तत्रैव वर्तते तत्र समृद्धिविलासः ।
त्वन्निदेशपूर्वकं प्राणिनः स्याद्यत्रैव निवासः ।।३१।।

समृद्धियों से ओतप्रोत (वैभव) विलास वहीं है, स्वर्ग-सुख वहीं है जहाँ पर प्राणी का, आपकी आकांक्षा के अनुकूल ही निवास हो ।

निरयञ्चापि सादरं धृत्वा शिरसि भवत्सन्दिष्टम् ।
मन्ये देव ! साधु सम्पन्नं पुरुषार्थं समभीष्टम् ।।३२।।

हे देव ! आप द्वारा आदिष्ट निरय (नरक) को भी सिरमाथे लगा कर मैं अपने अभीष्ट पुरुषार्थ को सम्पन्न मानता हूँ ।

नाहं व्यथे विभवपरिहारैर्वारुणपाशनिबद्धः ।
नापत्रपामुपैमि मनागपि देव ! भवति सश्रद्धः ।।३३।।

भगवान् वरुण के पाशों से जकड़ा हुआ मैं, वैभवों के परिहार (च्युति) से व्यथित नहीं हो रहा हूँ । हे देव ! श्रद्धा से अभिभूत मैं (अपने अभिभव से) तनिक भी लज्जा का अनुभव नही कर रहा हूँ ।

किन्तु भवेदधिकं सुयशो मेऽप्यतो नाथ ! मृदुभारम् ।
भगवान् स्वयं ययाचे दानं बलिमिति श्रितप्रचारम् ।।३४।।

'भगवान् (नारायण) ने वलि से स्वयमेव दान माँगा' लोक में प्रचारित तथा कोमल दायित्व वाला यह श्रेष्ठ यश तो हे प्रभो ! मेरे लिए उस पराभव से भी कहीं अधिक (सुखद) होगा ।

आकल्पं प्रचलिष्यत्यनिशं भवता सह मथ गाथा ।
किमतः परं भवत्सायुज्यं वृत्तिः का नु सनाथा !!३५।।

आपकी (यशो) गाथा के साथ ही साथ मेरी भी कथा कल्पपर्यन्त निरन्तर प्रवर्तित होती रहेगी। इससे अधिक श्रेष्ठ (मेरा) आपके साथ मेरा सायुज्य (तादात्म्य) और क्या होगा ? इससे बड़ी सनाथ (भरी-पुरी) वृत्ति और क्या होगी ?

गोष्ठीचर्चाविषयमुपैष्यति यदा निग्रहो नूनम् ।
निश्चप्रचं महाजनसंसदि भविता यशोऽप्यनूनम् ॥३६॥

(आप द्वारा किया गया मेरा) निग्रह-वृत्तान्त जब निश्चित रूप से गोष्ठियों में चर्चा का विषय बनेगा तब अवश्य ही महापुरुषों की समज्या में मेरा प्रभूत यश फैलेगा।

त्रिपदां धरां भगवते दातुं ह्यसमर्थो निगृहीतः ।
परमेश्वरेण बलिरधमर्णो वारुणपाशपरीतः !!३७॥

'भगवान् वामन को (मात्र) तीन डग पृथ्वी दे पाने में असमर्थ होने के कारण परमेश्वर द्वारा कर्जदार राजा बलि, वरुण के पाशों में जकड़ा हुआ बाँध लिया गया।'

किमतः परं भवेत्सौभाग्यं ममाभ्युदयसुखमूलम् ।
एवं यदि लप्यते वार्तया लोकजनैरनुकूलम् ॥३८॥

यदि समाज-पुरुषों द्वारा, वार्तालाप-प्रसंग में इस प्रकार की अनुकूल चर्चा की जाती है तो फिर इससे बड़ा अभ्युदय एवं सुख का मूलभूत मेरा सौभाग्य और क्या होगा ?

क्षमते को नु तोषितुं दानैर्निखिलसृष्टिदातारम् ?
परमेश्वरं त्रिलोकसर्जकं भेत्तारं त्रातारम् !!३९॥

(अन्यथा) सम्पूर्ण सृष्टि को दान देने वाले, त्रैलोक्य के सिरजनहार,

संहारक एवं रक्षक परमेश्वर को दानों से परितुष्ट कर पाने में कौन समर्थ हो सकता है ?

**भगवत्परितोषणासमर्थस्तत्प्रियदानाऽशक्तः ।**
**अधमर्णः सन्नपि वशंवदो महामहिमगुणयुक्तः ।।४०।।**

भगवान् को परितुष्ट कर पाने में असमर्थ तथा उनको अभीष्ट दान दे पाने में अशक्त अतएव अधमर्ण (कर्ज़दार) होता हुआ भी मैं आपका वशंवद तथा महामहिम गुणों से अलंकृत हो उठा हूँ।

**युग्मकम्**

**देवदेव ! भूतेश ! जगन्मय ! हृतसर्वस्व परेश !**
**भूतभावन ! प्रणतोद्धारण ! परमपुरुष ! भुवनेश !!४१।।**

हे देवदेव, हे जगन्नाथ ! हे जगदात्मन् ! मेरा सर्वस्व हरण करने वाले हे परमेश ! हे भूतभावन ! हे विनतजनों के उद्धारक ! हे परमपुरुष ! हे भुवनेश्वर !

**कृत्स्ना भूस्तुभ्यं समर्पिता महितं राज्यैश्वर्यम् ।**
**कर्मार्जिताश्च सकला लोका निवेदितं सर्वस्वम् ।।४२।।**

(अपनी) सम्पूर्ण साम्राज्य-भूमि, श्रेष्ठ राज्यैश्वर्य, कर्मों से अर्जित समस्त (अच्छे-बुरे) लोक तथा अपना सर्वस्व मैंने आपको अर्पित कर दिया।

**सम्प्रत्यकिञ्चनोऽहं जातो भक्तिमात्रसदुपायः ।**
**निरञ्जनश्चाप्यहमितिशून्यो ननु भवदेकसहायः ।।४३।।**

अब मैं एकदम भिखारी हो गया हूँ, बचा है तो एकमात्र भक्ति-भावना का अवलम्बन ! अब मैं विकाररहित, अहंकार-शून्य तथा एकमात्र आपका शरणागत बन गया हूँ।

युग्मकम्

यत्पादयोरशठधीः सलिलं मधुसूदन ! प्रदाय ।
दूर्वाङ्कुरैरभीष्टसपर्यां सत्त्वमयीं प्रविधाय !!४४।।

हे मधुसूदन ! छलछद्म-रहित बुद्धिवाला तुम्हारा परम विनीत भक्त जिन चरणों में दूर्वाङ्कुरों द्वारा जल तथा मनोवाँछित सात्त्विकी सपर्या अर्पित कर ।

नूनं भजते गतिमनुत्तमां भक्तः परमविनीतः ।
जननान्तरकृतपुण्यचयैः स्वैस्तत्रैवाहं नीतः ।।४५।।

निश्चय ही सर्वोत्तम गति (मुक्ति) का वरण कर लेता है, उसी स्थिति तक मैं अपने पूर्वजन्मार्जित पुण्य-सम्भारों द्वारा पहुँचा दिया गया हूँ ।

यथाऽगाधपाथोनिधिगह्वरसमवस्थितगुरुमीनः ।
सुखं भूरि निद्राति तथैव त्वन्निष्ठोऽहमदीनः ।।४६।।

जैसे अथाह सागर की गहराई में सुखपूर्वक स्थित महामत्स्य बड़े आराम से जी भर सोता रहता है उसी प्रकार आपमें डूब कर मैं भी अदीन (वैभव-सम्पन्न) हो उठा हूँ ।

परमेश्वर ! भवतनो ! परात्पर ! पाहि विरोचनपुत्रम् ।
हृदयमन्दिरं सततनिवसनैः कुरु मामकं पवित्रम् ।।४७।।

हे परमेश्वर, संसार रूपी महाविराट शरीर वाले हे उत्तमोत्तम ! विरोचनपुत्र (मुञ्ज बलि) की रक्षा कीजिए । अपने सतत निवास से मेरे हृदय-मन्दिर को पवित्र कर दीजिए ।

सुरासुरैः पाथोधिमंथने पुरा कृते भवभूपः ।
ननु दधार मन्दराचलं निजपृष्ठे कच्छपरूपः ।।४८।।

हे जगदीश्वर ! प्राचीनकाल में देवताओं तथा दैत्यों द्वारा समुद्र का मंथन किये जाने पर, कूर्मरूप धारण कर आपने मन्दर-पर्वत को अपनी पीठ पर धारण कर लिया था ।

महाप्रलयजलवृद्धौ भूत्वा शृङ्गमयः पाठीनः ।
वैवस्वतं दिदेश भूपतिं ज्ञानं पुरा प्रवीणः ।।४९।।

महाप्रलयकालीन जलप्लावन में शृङ्गयुक्त महामत्स्य बन कर प्रवीण आपने प्राचीन काल में विवस्वान्-पुत्र राजा सत्यव्रत को ज्ञानोपदेश दिया था ।

हिरण्याक्षमसुराधिपं ततस्समरे वराहकायः ।
ननु जघान द्रंष्ट्रोपरि धरणीं पुनरुज्ज्वलां निधाय ।।५०।।

तदनन्तर वराहरूप धारण कर, असुरराज हिरण्याक्ष को समरभूमि में मारा तथा उज्ज्वल (निष्कलंक) पृथ्वी को पुनः (अपनी) दाढ़ों के ऊपर धारण कर लिया ।

प्रपितामहं हिरण्यकशिपुमपि धृतनृसिंहवररूपः ।
पुरा जघान दुरन्तवैरिणं तत्रभवान् सुरभूपः ।।५१।।

हे देवाधिपते ! महामहिम आपने पहले (अपने) दुरन्त वैरी, मेरे प्रपितामह हिरण्यकशिपु को भी नृसिह जैसा श्रेष्ठ रूप धारण कर मार डाला था ।

सम्प्रति धृतवामनकलेवरः प्रभो ! पुनर्ह्यवतीर्णः ।
बलिनिग्रहं करोषि विचित्रं भक्तपरीक्षोत्तीर्णः ।।५२।।

हे प्रभो ! इस समय आप पुनः वामन रूप धारण कर अवतीर्ण हुए हैं तथा (अपने) भक्त की परीक्षा में उत्तीर्ण (सफल सिद्ध) होकर, विचित्र रूप से, बलि को बाँध रहे हैं ।

पाहि पाहि शरणागतरक्षक ! शरणागतं प्रपन्नम् ।
भवदनुरूपं भवदनुलीनं भवन्निष्ठमविपन्नम् ॥५३॥

हे शरणागतों के रक्षक ! अपनी शरण में उपस्थित, प्रपन्न (असहाय) आपके अनुरूप, आपमें अनुलीन तथा आपमें ही केन्द्रित एवं अविपन्न (आपकी कृपा के कारण विपत्तिहीन) मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिये ।

त्रिभुवनविभवदसमधिकं महितं त्वद्दत्तं ननु दुःखम् ।
परमपदं ह्यनपायसंश्रयं तटिनीपुलिनमशुष्कम् ॥५४॥

आपके द्वारा दिया गया यह दुख (निग्रह) भी त्रिभुवन के ऐश्वर्य से कहीं अधिक महनीय है । यह मेरे लिए पार्थक्यरहित (नित्यसायुज्य) परमपद है, जल से आर्द्र सरिता-तट जैसा है ।

त्वदुपेक्षणेऽपि सरसाऽपेक्षा स्नेहमयी प्रणयार्द्रा ।
तव विस्मृतावपि स्मृतिरुग्रा पद्मनाभ ! करुणार्द्रा !!५५॥

हे पद्मनाभ ! आपकी उपेक्षावृत्ति में भी प्रणय से सराबोर, स्नेह में भींगी (एक) सरस अपेक्षा विद्यमान है । आपकी विस्मृति में भी करुणा भरी एक तीखी स्मृति है (भक्तों के प्रति) ।

अनुकूलं प्रतिकूलं ह्युभयं हरिचन्दनमृदुशीतम् ।
त्वद्वात्सल्यकृतार्थितमनसां कृतेऽखिलं ते प्रीतम् !!५६॥

आपकी वत्सलता से कृतार्थित चित्तवृत्ति वाले (आपके भक्तों के लिये आपका) अनुकूल अथवा प्रतिकूल—दोनों ही (प्रकार का भाव) हरि-चन्दन-लेप के समान कोमल तथा शीतल हैं । आपका सब कुछ (भक्तों को) प्रिय लगता है ।

इतिवादिना बलिना प्रदर्शितमीश्वराय मनोमयम्
निर्मलमकल्मषमद्भुतं सहजं प्रकामसमर्पणम् ।

सत्त्वे समुदिते तन्मनोऽजायत विमुक्तमुदञ्चितं
निर्बन्धनञ्च निरञ्जनं सुखभोगरागलयङ्कृतम् ॥५७॥

इस प्रकार अभ्यर्थना करने वाले बलि ने, भगवान् वामन के प्रति अपना मनोमय, निर्मल, कल्मषरहित, अद्भुत तथा सहज पूर्ण समर्पण-भाव प्रदर्शित किया। सत्त्व के समुदित होते ही दैत्यराज बलि का मन बन्धन-रहित, प्रकाशमान, निर्बाध, निष्कलंक तथा सुख-भोग एवं आसक्ति के विलय से अलंकृत हो उठा।

सूते रजोगुण एव विशदासक्तिमाकांक्षामयीं
सूते तमोगुण एव भोगैश्वर्यवाञ्छां तन्मयीम्।
सत्त्वे समुदिते किन्तु जायत एव हृदयं निर्मलं
रविणा यथा ह्रियते निशा विद्योत्यते च महीतलम् ॥५८॥

रजोगुण ही वासनाओं से ओतप्रोत विशद आसक्ति को जन्म देता है। तमोगुण ही आसक्ति से युक्त, भोग एवं ऐश्वर्य की कामना को जन्म देता हैं। परन्तु सत्त्वगुण के उदित होते ही हृदय निर्मल हो उठता है (ठीक उसी प्रकार) जैसे समुदित रवि द्वारा रात्रि का समापन हो जाता है तथा भूमण्डल विद्योतित हो उठता है।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥५९॥

वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी जैसी अपनी कोख में, मौक्तिक-सदृश व्यक्तित्व वाले, कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया— देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के मध्य मणि-सदृश वही राजेन्द्रमिश्र अपनी हृत्तुष्टि के लिए, देववाणी में भगवान् त्रिविक्रम के निष्कलंक यश का गायन कर रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।

श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।६०।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्र-समूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—वह निसर्गजात अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यवृक्ष चिरञ्जीवी हो।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
बलिनिग्रहाभिधस्त्रयोदशः सर्गः।

• •

# चतुर्दशः सर्गः

श्रद्धाभक्तिप्रीतिसिन्धुप्रलीनं
राज्यैश्वर्यासक्तिहीनं प्रकामम् ।
दर्शं दर्शं निर्मदं ज्ञानदीप्तं
प्राह्लादिं तं मोदमापाशुतोषः ।।१।।

श्रद्धा-भक्ति तथा प्रीति के सागर में डूबे, राज्यैश्वर्य की आसक्ति से सर्वथा विहीन, मदविरहित तथा ज्ञान से दीप्त उस प्रह्लाद-पौत्र को अनवरत देखते हुए आशुतोष (भगवान् वामन) प्रसन्नता से भर उठे ।

वर्षाकाले पर्वतो वारिधौतः
स्वीयं रूपं साधु यद्वद्व्यनक्ति ।
विष्णुप्रीतिस्नातदेहोऽसुरेन्द्रोऽ-
प्येवं स्वीयं मूलभावं प्रपेदे ।।२।।

जैसे वर्षा ऋतु में जलवर्षा से धुला-धुला पर्वत अपना स्वरूप भलीभाँति प्रकट कर देता है उसी प्रकार नारायण-प्रीति से परिस्नात शरीर वाला, असुरराज बलि भी अपने मूल (सात्त्विक) भाव को प्राप्त हो उठा ।

चित्ताकाशं तस्य विज्ञानसूर्य-
ज्योतिर्दीप्तं रागमेघौघशून्यम् ।
कांक्षाविद्युन्नर्तनादिप्रहीणं
जातं चञ्चच्छारदीयप्रकाशम् ।।३।।

आसक्तिरूपी घनघटा से शून्य तथा वासनारूपी विद्युदुन्मेषादि से विहीन— विज्ञानरूपी सूर्य की ज्योति से विभासित उसका चित्ताकाश देदीप्यमान शरत्कालीन प्रकाश से ओतप्रोत हो उठा ।

दृष्ट्वा लीनं निर्मदं पादयोस्तं
दैत्याधीशं श्रीपतिर्विश्वमूर्तिः ।
भक्ताकांक्षाकल्पवृक्षः कराभ्यां
स्पर्शं स्पर्शं सार्जवस्तं बभाषे ।।४।।

राजमद-विहीन दैत्यराज उस बलि को (अपने) चरण-युगल में विनत देख कर—भक्तों की आकांक्षा-पूर्ति के कल्पतरु, विश्वमूर्ति लक्ष्मीपति ने हाथों से बार-बार संस्पर्श कर, ऋजुतापूर्वक उससे कहा ।

वत्सोत्तिष्ठ त्वं समुत्तीर्णरागो
मय्याविष्टो मन्मनाश्चासि जातः ।
प्राह्लादे ! त्वं क्षुण्णमृत्युर्महात्मा
श्रेष्ठो नूनं नायको वैष्णवानाम् ।।५।।

वत्स ! उठो । तुमने आसक्तियों को पार कर लिया है । अब तुम मुझसे ओतप्रोत तथा मुझमें समर्पित चित्तवृत्ति वाले बन गये हो । हे प्रह्लाद-पुत्र ! तुम महान् आत्मा तथा तीर्णमृत्यु हो । तुम निश्चय ही वैष्णवों के नायक तथा श्रेष्ठ हो ।

कामक्रोधौ मोहलोभादिका वा
भावास्तावत्प्राणिनं पीडयन्ति ।
यावत्तेषां हृत्सु नैवाभ्युदीते
दिव्यं ज्योतिर्मत्स्वरूपानुलीनम् ।।६।।

काम-क्रोध अथवा मोहलोभादि भाव प्राणी को तभी तक पीड़ित करते हैं जब तक कि उनके हृदयों में मेरे स्वरूप से आप्यायित दिव्य ज्योति उदित नहीं होती है ।

अन्ये देवाः शम्भुमुख्याः प्रसन्नाः
स्वीयान् भक्तान् वैभवैस्तर्पयन्ति ।

वृत्तिस्तेषां राजसी तामसी वा
दानं तेषां तन्निसर्गानुकूलम् ।।७।।

शंकर-प्रभृति अन्यान्य देवगण प्रसन्न होने पर, अपने भक्तों को ऐश्वर्यों से परितुष्ट कर देते हैं। उनकी वृत्ति राजसी अथवा तामसी होती है (अतएव) उनका दान भी उन देवों के निसर्ग (प्रकृति) के ही अनुकूल होता है।

विश्वाधारः किन्तु सत्त्वप्रपन्नो
निस्सङ्गोऽहं निर्विकारोऽस्मि वत्स !
नो बाधेते मां रजो वा तमो वा
ज्योतिर्मूलं मुक्तिकैवल्यहेतुम् ।।८।।

परन्तु हे वत्स ! (एकमात्र) मैं सम्पूर्ण विश्व का आधार, सात्त्विकता से ओतप्रोत, निस्संग तथा विकार-रहित हूँ। दिव्य प्रकाश से युक्त तथा मुक्ति एवं कैवल्य के हेतुभूत मुझको (ही) रजोगुण तथा तमोगुण बाधित नहीं करते हैं।

तस्मान्नूनं मत्प्रसादो विचित्र-
श्चित्रं नूनं वत्सलत्वं ममास्ति।
नाहं कांक्षां साधु सम्पादयामि
कांक्षामेवोन्मूलयामि प्रवृत्ताम् ।।९।।

इसलिये मेरा कृपाभाव विचित्र ही होता है, मेरी वत्सलता भी सचमुच बिलक्षण ही होती है। मैं (अपने भक्तों की सांसारिक) कांक्षा को सम्यक् रूप से पूर्ण नहीं करता प्रत्युत उत्पन्न कांक्षा को ही जड़ से उन्मूलित कर देता हूँ।

यो मे नित्यं रोचतेऽखण्डनिष्ठो
मय्याविष्टः सर्वथा सिद्धभक्तिः।
तस्यैश्वर्यं रागबन्धैकमूलं
हत्वा सम्यक् तं निरीहं करोमि ।।१०।।

मुझमें आविष्ट (समाया हुआ) अखण्डित निष्ठा वाला तथा भक्तिभाव-प्रपन्न जो व्यक्ति मुझे निरन्तर प्रिय लगता है, आसक्ति एवं बन्धन के एकमात्र कारणभूत उसके ऐश्वर्य को अपहृत कर मैं उसे सम्यक् रूप से निरीह (कांक्षाविहीन) बना देता हूँ ।

ऐश्वर्यैर्यं स्तब्धमुन्मत्तमेवं
प्रेक्षे लोकं माञ्च नो मन्यमानम् ।
स्वीयं मत्वा तस्य सर्वं मुषित्वा
निष्कामं तं दीनदीनं करोमि ।।११।।

अपने जिस (भक्त) को मुझमें अकेन्द्रित, लोकविरुद्ध तथा तुम्हारे समान ऐश्वर्यों से स्तब्ध तथा मदमत्त देखता हूँ, उसको 'अपना सगा' मानकर, सब कुछ छीन कर, उसे अतिशय दीन तथा निष्काम बना देता हूँ ।

नो मे भक्तो गर्वभाराणि वोढुं
नो वाऽन्येषां पीडनं संविधातुम् ।
नो वाऽऽकांक्षानिम्नगोर्मिप्रचारे
स्वैरं तर्तुं भूरिकालं स्वतंत्रः ।।१२।।

मेरा (कोई भी) भक्त अभिमान के दायित्वों को वहन करने के लिये, दूसरों को पीड़ित करने के लिये तथा इच्छारूपी नदी की लहरों के प्रवाह में निर्बन्ध सन्तरण के लिए चिरकाल तक स्वतंत्र नहीं है ।

जीवात्मा संसरन् कर्मभिः स्वै-
र्नानायोनिष्वाव्रजेत्पौरुषीं चेत् ।
अक्षीणाभिर्वासनाभिः प्रकामं
तस्य स्तम्भो जायते एव नूनम् ।।१३।।

हे वत्स ! अपने कर्म-प्रभाव से नाना योनियों में संसरण करता हुआ यह

जीवात्मा यदि (कभी) पुरुष-योनि में आ पड़ता है तब अक्षीण वासनाओं के कारण निश्चित रूप से उसका भरपूर 'स्तम्भन' (जड़त्व) हो ही जाता है ।

सद्वंशत्वं रूपमैश्वर्यमुग्रं
विद्यागर्वो यौवनञ्चाप्यननम् ।
कर्म प्राज्यं दत्तलोकप्रतिष्ठं
एतत्सर्वं स्तम्भमूलं नराणाम् ॥१४॥

श्रेष्ठ वंश में उत्पत्ति, रूप-लावण्य, समुन्नत ऐश्वर्य, विद्याभिमान, प्रभूत यौवन, लोकप्रतिष्ठा देने वाला कर्मबाहुल्य—यह सब मनुष्यों के स्तम्भन का मूल है ।

गर्वः स्तम्भो मानभावोऽथ तीव्रो
मद्भक्तानां नैव याति प्रणाशम् ।
यावन्नाहं स्वीयमायाप्रयोगै-
स्तं निर्मानं गर्वहीनं करोमि ॥१५॥

मेरे भक्तों का गर्व, स्तम्भ (जड़त्व) तथा तीव्र मानभाव तब तक विनष्ट नहीं हो पाता है जब तक कि मैं अपनी माया (शक्ति) के प्रभाव से उसे मानरहित तथा गर्वहीन नहीं बना देता ।

श्रेयःप्राप्तौ नूनमेते प्रतीपा
भावा वत्स ! स्तम्भमानादिकाः स्युः ।
निष्कामत्वं नीत आत्मैकनिष्ठो
भक्तो मुह्येन्मत्परो नैव किन्तु ॥१६॥

हे वत्स ! ये स्तम्भ तथा मानादिभाव, निश्चय ही श्रेयःप्राप्ति के मार्ग में बाधक हैं । परन्तु मन्निष्ठ भक्त जो कि आत्मैकनिष्ठ तथा निष्कामता को प्राप्त हो चुका है, कभी मोहग्रस्त नहीं होता ।

प्राह्लादे ! त्वं धन्यधन्योऽसि वत्स !
नूनं जातोऽस्यग्रणीर्वैष्णवानाम् ।
धैर्यं स्वीयं विष्णुभक्तिञ्च हृद्यां
क्षुण्णोऽप्येवं नात्यजो वैशसे स्वे ।।१७।।

हे प्रह्लादनन्दन ! तुम धन्यातिधन्य हो । हे वत्स ! तुम निश्चय ही वैष्णवों (भक्तों) में अग्रणी बन गये हो । जो कि अपनी विपत्ति में, इस प्रकार पीड़ित होते हुए भी, तुमने अपने धैर्य तथा रमणीय विष्णु-भक्ति को तिलाञ्जलि नहीं दी ।

युग्मकम्

रिक्थैः क्षीणो भर्त्सितश्चाभिशप्तः
स्वोपाध्यायैः शत्रुभिश्चापि बद्धः ।
स्थानभ्रष्टो ज्ञातिभिश्चावधूतः
क्लिष्टो नूनं यातनाभिः प्रकामम् ।।१८।।

ऐश्वर्यों से च्युत, अपने कुलगुरु (भगवान् शुक्र) द्वारा भर्त्सित एवं अभिशप्त शत्रुओं (देवताओं) द्वारा भी बन्धनग्रस्त, पद-प्रतिष्ठा से भ्रष्ट, स्वजनों द्वारा तिरस्कृत, तथा यातनाओं द्वारा अतिशय सन्तापित ।

कः कः सोढो नैव तीव्रापमानो
व्याजेनोक्ता स्वीकृता मे च याच्ञा ।
तीर्णा का का नैव भीष्मा परीक्षा
सन्त्यक्ता नो किन्तु धर्मप्रतिष्ठा ।।१९।।

तुमने कौन-कौन असह्य अपमान नहीं सहे ? छलपूर्वक कही गई मेरी (दान-) याचना को तुमने स्वीकार किया । कौन-कौन भयावह परीक्षा तुमने नहीं उत्तीर्ण की ? परन्तु धर्म की प्रतिष्ठा तुमने छोड़ी नही ।

नूनं त्वं मे प्रेष्ठशिष्योऽसि जातो
मूर्द्धन्यस्त्वं वैष्णवानां समेषाम् ।

धर्मारूढः सत्यसन्धो व्रतस्थः
प्राज्ञो धुर्यो ज्ञानिनां भक्तिभाजाम् ।।२०।।

समस्त भागवतों में मूर्द्धन्य तुम, निश्चय ही मेरे सर्वाधिक प्रिय शिष्य बन गए हो। तुम धर्म (पथ) पर आरूढ़, सत्यपालक, व्रत-निर्वाहक, ज्ञानियों में प्राज्ञ तथा भक्तिभाव-सम्पन्नों में अग्रणी हो।

तस्मान्मा गा अल्पमात्रं विषादं
बुध्वा सर्वं तन्ममेच्छाविलासम् ।
ऐन्द्रीं ख्यातिं यास्यसि त्वं भविष्ये
सावर्णेये दिव्यमन्वन्तराले ।।२१।।

इसलिए समस्त घटनाओं को मेरी इच्छा का विलास (मात्र) मान कर तनिक भी विषाद का अनुभव मत करो। भविष्य में दिव्य सावर्णि-मन्वन्तर आने पर, तुम ऐन्द्री ख्याति को प्राप्त करोगे (अर्थात् इन्द्र बनोगे)।

एतन्मध्ये सौतलं लोकमध्या-
स्तां सौवर्णं विश्वकर्मप्रणीतम् ।
यत्राहं ते नित्यदृष्टः समक्षं
स्थास्याम्येव त्वन्मनोरागबद्धः ।।२२।।

इस बीच तुम, विश्वकर्मा द्वारा निर्मित, काञ्चनमय सुतल-लोक में निवास करो जहाँ कि तुम्हारे प्रेमसूत्र में आबद्ध तथा तुम्हारे समक्ष नित्य दृष्टिगोचर मैं (भी) निवास करूँगा।

नो स्युस्तत्र व्याधयो वाऽऽधयो वा
पीडास्तन्द्रा नोपसर्गाः क्लमाश्च ।
रक्षिष्ये त्वां सानुगं सर्वतोऽहं
मृत्युर्नो ते प्राणसूत्रान्तरायः ।।२३।।

उस सुतल-लोक में न व्याधियाँ होंगी, न ही मानसिक व्यथाएँ ! और न ही पीडाएँ, तन्द्राएँ, विघ्नबाधाएं तथा थकान आदि होंगीं । मैं हर प्रकार से प्रियजनों सहित तुम्हारी रक्षा करूँगा । मृत्यु तुम्हारे प्राण-सूत्रों में बाधक नहीं बनेगी ।

**सङ्गान्नूनं दानवानामुदीर्णो**
**नैसर्गोऽसावासुरो भावबन्धः ।**
**सद्यः कुण्ठो मत्प्रभावैरुदारै-**
**र्वर्षाकल्पैर्ध्वंसयेदर्कतुल्यः ॥२४॥**

दानवों की (कु) संगति के कारण उपबृंहित वह तुम्हारा आसुर भावबन्ध (राक्षस-स्वभाव) निश्चय ही स्वाभाविक है तथापि वर्षासदृश मेरे उदार प्रभावों द्वारा, सूर्य के समान वह ध्वस्त हो उठेगा ।

**मन्निष्ठस्त्वं मन्मना मद्विधेयो**
**मद्भक्तानां सत्कुलेऽसि प्रजातः ।**
**तस्मादुह्यं नो त्वया गर्वभारं**
**नो वा सृष्टिर्वैष्णवी पीडनीया ॥२५॥**

तुम मन्निष्ठ हो, मुझमें अर्पित चित्तवृत्ति वाले हो, मेरे आज्ञाकारी हो तथा भक्तों (प्रह्लाद विरोचन आदि) के कुल में उत्पन्न हुए हो । इसलिए (भविष्य में कभी भी) अभिमान का भार-वहन मत करना और न ही वैष्णवी सृष्टि (विष्णुभक्त-प्रजा) को पीड़ित करना ।

**मोहाल्लोभात्प्रेरणाद्वा गुरूणां**
**प्राग्भावानां जृम्भणाद्वा तथापि ।**
**यद्देवानामार्जवावैरभाजां**
**शत्रुर्जातो गर्वमात्सर्ययुक्तः ॥२६॥**

मोह, लोभ, गुरुजनों की प्रेरणा अथवा पूर्वजन्मों के परिणामोन्मुख भावों के कारण फिर भी, गर्व एवं मात्सर्य से युक्त होकर जो तुम आर्जव तथा अवैर (मैत्री) सम्पन्न देवताओं के शत्रु बन गये ।

तस्माद्गर्वः खण्डितोऽयं मया ते
तस्माद्बद्धो लाघवञ्चापि नीतः ।
एतत्सर्वं वत्स ! दृष्टान्तभूतं
सोन्मादानां व्यर्थतादर्शनाय ।।२७।।

इसीलिए तुम्हारा यह गर्व मैने खण्डित किया । इसीलिए तुम (मेरे द्वारा) बाँधे गये तथा लाघव (अपमान) को प्राप्त हुए । वत्स बलि ! यह सब, उन्मादग्रस्त प्राणियों की असफलता को प्रदर्शित करने के लिये दृष्टान्त के समान है ।

मन्ये मोहस्तेऽधुनाऽस्ति प्रणष्टो
निष्कामं ते चित्तमाकाशशुभ्रम् ।
नाहंकारस्साम्प्रतं बाधते त्वां
सामञ्जस्यं मन्मयं मानसे ते ।।२८।।

मैं समझता हूँ कि अब तुम्हारा मोह पूर्णतः नष्ट हो गया है । तुम्हारा निष्काम चित्त आकाश के समान शुभ्र (निर्मेघ) बन गया है । अब अहंकार तुम्हें अभिभूत नहीं करेगा तथा तुम्हारे मन में, मुझसे अनुप्राणित सामञ्जस्य स्थापित होगा ।

तस्मान्मुक्तो वारुणैश्चासि पाशै-
र्विद्ध्यात्मानं मत्कृपामात्रबद्धम् ।
न त्वां भूयो जातु संसारभावा
बाधिष्यन्ते सेयमास्ते ममाशीः ।।२९।।

इसलिये (अब तुम) वरुण-पाशों से मुक्त हो । स्वयं को मेरी कृपामात्र से बँधा हुआ मानो । तुम्हारे लिये यह मेरा आशीर्वाद है कि फिर कभी भी सांसारिक भाव तुम्हें बाधित न करें ।

प्राह्लादिं तं देवदेवोऽथ विष्णुः
सन्तोष्यैवं स्निग्धवाग्भिर्निकामम् ।

मुक्तं चक्रे निर्मदं निर्विकारं
ज्ञानोदर्कारोपितान्तःप्रकाशम् ॥३०॥

इस प्रकार देवाधिदेव विष्णु (भगवान् वामन) ने, स्निग्ध वचनों से प्रह्लाद-नन्दन को पूर्णतः परितुष्ट करके—मदविहीन, विकाररहित तथा ज्ञानरूपी उदीयमान सूर्य द्वारा स्थापित अन्तः प्रकाश वाले उसको मुक्त कर दिया।

तस्मिन्काले नीलतारापथस्थाः
प्रह्लादाद्या दैत्यमुख्यास्सदेवाः।
उच्चैर्नादैर्घोषयन्तिस्म वाचं
सद्वादानां साधु वर्धापनानाम् ॥३१॥

उस समय, नील नभोमण्डल में उपस्थित प्रह्लाद आदि प्रमुख (वैष्णव) दैत्यों ने देवताओं-सहित, उच्च स्वरों में, सद्वादों (प्रशंसा वचनों) तथा वर्धापनों (शुभाशंसाओं) की वाणी व्यक्त की।

पौत्रं स्वीयं लब्धविष्णुप्रसादं
निर्मुक्तं तं वंशकीर्त्येकमूलम्।
प्रह्लादोऽसौ संस्पृशन् पाणितल्पैः
प्रोवाचैवं निर्यदश्रुप्रवाहः ॥३२॥

भगवान् विष्णु की कृपा को प्राप्त करने वाले, (स्व) वंशकीर्ति के एकमात्र मूलभूत तथा भलीभाँति मुक्त किये गये अपने पौत्र उस बलि को, अपने तल्प सदृश करतलों से सहलाते हुए (नेत्रों से) झरती अश्रुधारा वाले महात्मा प्रह्लाद ने कहा।

नूनं वंशे भास्करोऽसि प्रजातो
बान्धव्यानां कीर्तिहेतुर्बले! त्वम्।
योऽभूः दत्वा विष्णवेऽपि त्रिपादां
भूमिं याच्ञाकारकायोत्तमर्णः ॥३३॥

हे बलि! निश्चय ही तुम दैत्यकुल में सूर्य के समान अवतीर्ण हुए हो। तुम अपने बन्धु-बान्धवों की कीर्ति के हेतु हो जो कि तुमने भगवान् विष्णु को भी (उनकी मुँहमाँगी) तीन डग पृथ्वी दान की तथा याचना करने वाले व्यक्तित्व के लिये भी उत्तमर्ण (दाता) बन गये।

धन्यो वंशो धन्य एवास्मि सोहं
पूर्वस्थस्ते तातपादोऽपि धन्यः।
विष्णुप्रीतेर्बीजवप्त्री कुलेऽस्मिन्
धन्येदानीं वत्स! मेऽम्बा कयाधूः ॥३४॥

धन्य हुआ वंश, तुम्हारा पितामह वह मैं भी धन्य हो उठा हूँ। तुम्हारे तातश्री (विरोचन) भी कृतार्थ हुए। इस (दानव) कुल में विष्णुप्रियता का बीज बोने वाली मेरी जननी (अर्थात् तुम्हारी प्रपितामही कयाधू) भी सम्प्रति कृतकृत्य हो उठी।

भूयो देवं वामनं सादरं सः
प्रोवाचैवं को नु वेत्तुं समर्थः?।
गूढां लीलां नाथ! चञ्चद्रहस्यां
जानास्येकस्त्वं विधानप्रसक्तः ॥३५॥

महात्मा प्रह्लाद ने पुनः भगवान् वामन से इस प्रकार कहा—हे नाथ! रहस्यों से भरी तुम्हारी गूढ़ लीला को जान पाने में भला कौन समर्थ है? अपनी लीला में अनुस्यूत एकमात्र तुम्हीं (उसे) जानने हो।

देवैस्सर्वैर्हन्त नित्याभिवन्द्यै-
र्यो वं नित्यं वन्दिताङ्घ्रिः स्वयं वा।
जातः सोऽपि द्वारपालः कृपालुः
सौभाग्यं नोऽस्मात्परं किन्नु भूयः ??३६॥

नित्यप्रति वन्दनीय समस्त देवताओं द्वारा जो स्वयमेव निरन्तर समर्चित-चरण वाला है वह कृपालु परमेश्वर भी (अपने भक्त बलि का) द्वारपाल बन गया? आश्चर्य है! इससे बड़ा हमारा और कौन सौभाग्य होगा?

नेमं दिव्यं देव ! लक्ष्मीः प्रसादं
शम्भुर्धाता द्रागवाप्तुं क्षमन्ते ।
को वा प्रश्नो नायकानां परेषां
यं पौत्रो मे प्राप्तवान् भूरिभाग्यः ॥३७॥

हे देव ! आपकी जिस कृपा को, प्रभूत सौभाग्यशाली मेरे पौत्र ने प्राप्त कर लिया उस दिव्य प्रसाद (कृपाभाव) को (आपकी प्रिया) लक्ष्मी, देवाधिदेव शिव तथा ब्रह्मा भी शीघ्रता से प्राप्त कर पाने में समर्थ नहीं होते । अन्यान्य (देव) नायकों का भला क्या प्रश्न ?

चित्रं नूनं काङ्क्षितं ते प्रगूढं
स्वारस्यन्ते कर्मणाञ्चापि चित्रम् ।
सर्वात्मा त्वं सर्वदृष्टिश्च सर्वं
भक्ताभीष्टः कल्पवृक्षस्वभावः ॥३८॥

निश्चय ही तुम्हारी आकांक्षा अत्यन्त रहस्यमय तथा विस्मयावह होती है । तुम्हारे व्यवहारों का स्वारस्य (सार्थकता) भी आश्चर्यजनक होता है । हे प्रभो ! आप सबकी आत्मा हैं, सबकी दृष्टि हैं, सबके सर्वस्वभूत हैं, (अपने) भक्तों को अभीष्ट हैं तथा कल्पवृक्ष जैसे स्वभाव वाले हैं ।

पुत्रान् स्वीयान् पौत्रवर्गांश्च सर्वान्
बन्धूनन्यान् राधितुं वा प्रकामम् ।
को वा शक्तो नाथ ! मर्त्यः कुटुम्बे
त्वं ब्रह्माण्डं राधसे किन्तु सम्यक् ॥३९॥

कुटुम्ब में—अपने पुत्रों को, समस्त पौत्रों को तथा अन्यान्य बन्धु-बान्धवों को भलीभाँति प्रसन्न कर पाने में भला कौन मनुष्य समर्थ हो पाता है ? किन्तु एक आप हैं कि समूचे ब्रह्माण्ड को सम्यक् रूप से आराधित कर लेते हैं (सबकी कामनाएं पूर्ण कर) !

मार्जारीव स्तन्यमात्रावलम्बं
वत्सं भक्तं स्वं समुद्धर्तुकामः।
सृष्ट्वा रम्यं संविधानं विचित्रं
निर्बाधं त्वं कल्पसे रक्षणाय ॥४०॥

अपने दूध मात्र के सहारे जीवित बच्चे को जैसे मार्जारी स्वयं सँभालती है, उसी प्रकार अपने भक्त को समुद्धृत करने की कामना से, आप विघ्नबाधारहित विलक्षण तथा रमणीय उपाय रचकर (उसकी) रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

यत्नैर्लक्षैस्तन्त्रमंत्रैस्तपोभि-
र्यस्त्वं बन्धुं शक्ष्यसे नो कथञ्चित्।
आत्मारामस्त्वं स एवासि लब्धः
स्वैरं कैश्चिद्भाग्यवद्भिस्सहेलम् ॥४१॥

लाखों प्रयत्नों, तंत्र-मंत्रों तथा तपश्चर्याओं द्वारा भी जो आप कथमपि बाँधे जा सकने में समर्थ नहीं हो पाते हैं, आत्माराम-स्वभाव वही आप किन्हीं भाग्यवानों द्वारा, खेल-खिलवाड़ में ही, भरपूर उपलब्ध हो जाते हैं।

द्रष्टुं केचित्त्वां समाधौ यतन्ते
शास्त्राभ्यस्ता ज्ञानदीप्तान्तरालाः।
भक्तिश्रद्धारज्जुबद्धः परन्तु
त्वं केषाञ्चित् सर्वदा राजसेऽन्तः ॥४२॥

शास्त्रों का अभ्यास करने वाले तथा ज्ञान-रश्मियों से प्रकाशित अन्तःकरण वाले कुछ लोग तुम्हें समाधि-दशा में देखने का प्रयत्न करते हैं परन्तु भक्ति एवं श्रद्धा की डोरी में बँधे आप कुछ लोगों के हृदय में (स्वयमेव) सदैव विराजमान रहते हैं।

चित्रा दृष्टिश्चित्र एव स्वभाव-
श्चित्रं देव! त्वत्कृपाया प्रमाणम्।

स्वैरं गर्जन् स्वैरमेवाभिवर्षन्
दृष्टो नष्टः स्वैरमम्भोदकल्पः ।।४३।।

आपकी दृष्टि ही विलक्षण है। स्वभाव विलक्षण है। हे स्वामी! आपकी करुणा का प्रमाण (हेतु) भी विलक्षण है। बादल की तरह आप अपनी इच्छा से ही गरजते हैं, अपनी इच्छा से ही बरसते हैं और अपनी इच्छा से ही उमड़ते अथवा विलीन हो जाते है।

एवं नम्रै संस्तवैरिष्टदेवं
पश्यन् स्वान्ते राजमानं नृसिहम्।
स्तुत्वा सम्यग् जातरोमाञ्चसौख्यः
प्रह्लादोऽभूदङ्घ्रियुग्मप्रलीनः ।।४४।।

इस प्रकार, अपने अन्तःकरण में विराजमान भगवान् नृसिंह (के रूप में) को देखते हुये, विनम्र संस्तुतियों द्वारा इष्टदेव की सम्यक् रूप से स्तुति करके, रोमाञ्च-सुख से ओतप्रोत (भक्तराज) प्रह्लाद श्रीहरि के चरणयुगल में समर्पित हो उठे।

जयजयेतिवचोभिरुदञ्चितं
गगनमाशु बभूव समाकुलम्।
कुसुमवर्षणपूरितदिङ्मुखं
सुविशदां सुषमां स्फुटमादधे ।।४५।।

तभी 'जय हो-जय हो' के वचनों से आप्यायित, तथा पुष्पवर्षा से पूरित दिशाओं वाला आकाशमण्डल क्षण भर में ही समाकुल सा हो उठा तथा स्पष्ट रूप से अतिशय निर्मल सुषमा से ओतप्रोत हो उठा।

बलिरसौ शिथिलीकृतबन्धनः
शिरसि विष्णुकरैरुपलालितः।

परममोदमुपेत्य यथाक्रमं
हरिवटुं प्रणनाम पितामहम् ।।४६।।

शिथिल (मुक्त) किये गये बन्धन वाले, शीश के ऊपर भगवान् विष्णु की हथेलियों से दुलारे गये उस (दैत्यराज) बलि ने तब परम प्रसन्नता का अनुभव करते हुए, उचित क्रम से वटुरूपधारी श्रीहरि को तथा पितामह (प्रह्लाद) को प्रणाम किया ।

यथा प्रशान्ते सदसीन्द्रजाले
सर्वं पुनः पूर्ववदेव भाति ।
स्मृतिर्व्यतीतस्य मनोऽधिरूढा
तथापि रोमाञ्चमभिव्यनक्ति ।।४७।।

जैसे किसी जनसमवाय में इन्द्रजाल का प्रदर्शन समाप्त हो जाने पर सब कुछ पुनः पूर्ववत् भासित होने लगता है, फिर भी मन पर आरूढ़, अतीत की स्मृति (इन्द्रजाल के करतब) पुलकन पैदा करती रहती है ।

तथैव याते खलु वामनत्वं
बंहीयसीं हन्त विहाय मूर्तिम् ।
प्राग्दर्शिनां यज्ञसदामुदीतः
स्मृत्याऽसकृन्मेदुररोमहर्षः ।।४८।।

ठीक उसी प्रकार (भगवान् श्रीहरि द्वारा) महाविराट आकार छोड़ कर पुनः अपना वामन-रूप धारण कर लेने पर (भी) पूर्वदृश्य को देख चुके, यज्ञमण्डप में बैठे सदस्यों को (उसकी) स्मृति मात्र से बार-बार घनीभूत रोमाञ्च का अनुभव होने लगा ।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।

श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणो राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥५०॥

वन्दनीयादेवी अभिराजी ने अपनी सीपी जैसी कोख में, मोती सरीखे व्यक्तित्व वाले कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया, देवेन्द्र एवं सुरेन्द्र के बीच मणिसदृश वही राजेन्द्रमिश्र (कवि) अपने हार्दिक परितोष के लिए, देववाणी के माध्यम से, भगवान् वामन का यशोगान कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥१५॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता ही जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, श्री जयदेव के देववचन जिसके पत्ते हैं, विल्हण की उक्तियाँ पुष्प हैं तथा श्रीमान् पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है— अभिराजराजेन्द्ररूपी वह निसर्गजात काव्यतरु चिरजीवी हो ।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
वामनप्रबोधाभिधश्चतुर्दशः सर्गः ।

• •

# पञ्चदशः सर्गः

अथ भुवनपतेः सुवाचिकं मनसि निधाय विवृद्धगौरवः ।
सुविशदहृदयों बलिर्ययौ सुखपरितोषसृतिम्महीयसीम् ।।१।।

इसके अनन्तर, भुवनपति श्रीहरि के श्रेष्ठ उपदेश को मन में धारण कर, बढ़े हुए गौरव तथा अतिशय निर्मल हृदय वाला बलि, महनीय सुख एवं सन्तोष की सरणि को प्राप्त हो उठा ।

पुनरपि तमुवाच वामनः श्रितकरुणोऽप्यतिवत्सलों बलौ ।
समधिकरुचिरं तमोऽपहं शृणु मम वत्स ! मनोज्ञवाचिकम् ।।२।।

बलि के प्रति अत्यन्त वत्सल एवं करुणा से ओतप्रोत भगवान् वामन पुनः बोले—हे पुत्र ! अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले, अत्यधिक रुचिकर मेरे मनोज्ञ (रमणीय) वाचिक को सुनो ।

निखिलजगदिदं त्रिभिर्गुणैर्विरचितमस्ति विरञ्चिनाऽद्भुतम् ।
परिणमति ततः पृथक् पृथक् शतशतभावविभावभूषितम् ।।३।।

यह सम्पूर्ण संसार प्रजापति ब्रह्मा द्वारा तीन गुणों (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) के सहयोग से निर्मित किया गया है । इसीलिये शत-शत भावों (संवेदनाओं) तथा विभावों (आलम्बन उद्दीपनादि उपादानों) से विभूषित होकर पृथक्-पृथक् रूप से प्रकट होता दीखता है ।

विबुधदनुजमानवा बले ! दधति नु सत्त्वतमोरजोगुणान् ।
प्रभवति नियमे क्वचित् पुनः उदयति जातु गतिव्यतिक्रमः ।।४।।

हे वलि ! देवता, दानव तथा मनुष्य क्रमशः सत्त्व, तमस् तथा रजोगुणों को (मुख्यतः) धारण करते हैं। इस सृष्टिनियम के प्रभावी होने पर भी कभी-कभी स्थिति में व्यतिक्रम (विपर्यय) हो ही जाता है।

विबुधपरिकरेऽपि तामसो जनयति कोऽप्यसुरेऽपि सात्त्विकः ।
ननु मनुजगणेऽपि जायते सुरसदृशोऽप्यथवा निशाचरः ॥५॥

देव-समुदाय में भी कोई तामस प्रवृत्ति का होता है और कोई असुरकुल में भी सात्त्विक वृत्ति का पैदा होता है। बस यूँ ही, मानवों में भी (कभी-कभी) कोई देवसदृश अथवा निशाचर-वृत्ति पैदा हो जाता है।

सुरदनुजमनुष्यविग्रहं विगणय वत्स ! गुणैकमन्दिरम् ।
त्रिगुणनिवहशालिनी ततः प्रकृतिरियं त्रितयान्विता स्वयम् ॥६॥

हे पुत्र ! देवताओं, दानवों तथा मानवों के शरीर को तो गुणत्रय का (अधिष्ठानभूत) एक मन्दिर मात्र समझो। इसीलिये, स्वयमेव त्रिगुणात्मिका यह प्रकृति तीन प्रकार के परिणामों वाली है।

स च भवति सुरो विकस्वरः समधिकसत्त्वगुणं दधाति यः ।
स भवति दनुजोऽसमञ्जसो भजति तमोगुणपारणाञ्च यः ॥७॥

जो प्रभूत मात्रा में सत्त्वगुण को धारण करता है वह प्रकाशमान देवता होता है और जो तमोगुण की पारणा (भोग) करता है वही असमञ्जस (विषमशील) दानव होता है।

सुरदनुजजनैस्ततोऽधिकां ननु गणयामि महीयसीमहम् ।
महितमनुजयोनिमुन्नतां समगुणसत्त्वतमस्समन्विताम् ॥८॥

परन्तु मैं तो निश्चित रूप से देव-दानव योनियों से कहीं अधिक महीयसी, समुन्नत तथा आदरणीय मानवयोनि को मानता हूँ जो कि समान मात्रा वाले सत्त्व एवं तमस् से समन्वित होती है (और रजोगुण तो उसका मूलाधार है ही)।

नयविनययुतः शुभेक्षणः मयि निरतश्च परोपकारणे।
सुरदनुजगुणाप्तिनिःस्पृहो ननु मनुजो मनुजोऽप्यतिद्वयः ॥९॥

नय एवं विनय से युक्त, शुभदृष्टि-सम्पन्न, मुझमें तथा परायों के उपकार में निरत तथा देवताओं अथवा दानवों के गुणों को प्राप्त करने में (सर्वथा) निःस्पृह मनुष्य, मनुष्य होते हुए भी, उन दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

ऋतेन सत्येन तथापि सौम्य !
तपोभिरुग्रैः प्रकृतिः पुराणी।
शक्याऽन्यथाकर्तुमुपायरम्या
भव्यं हि सर्वं तपसामधीनम् ॥१०॥

हे सौम्य ! (देवादि की प्रकृति इस प्रकार नियत होने पर भी) ऋत एवं सत्य द्वारा तथा उग्र तपस्याओं द्वारा—साधनों के आश्रय से रमणीय बन जाने वाली पुराणी (जन्मजन्मान्तरानुगत) प्रकृति को बदला जा सकता है। क्योंकि सारा कल्याण तपश्चर्या के अधीन होता है।

ऋतेन सत्येन तपोभिरेव
नित्यं विधिः सर्वमिमं प्रपञ्चम्।
निर्मात्यहञ्चाऽप्यनुपालयामि
शम्भुश्च रुद्रो विदहत्यनल्पम् ॥११॥

ऋत एवं सत्य तथा तपश्चर्याओं के ही बल पर ब्रह्मा इस सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का निरन्तर विस्तार करते हैं (और उन्हीं के बल पर) मैं भी (सृष्टि का) पालन करता हूँ तथा बीभत्स शम्भु पूर्ण संहार करते हैं।

ग्रहाश्च सर्वे नियते स्वमार्गे
सरन्ति नित्यं नियमानुबद्धाः ।
क्षणं न वा कोऽपि जहाति यत्स्वं
निसर्गजं रम्यगुणं मनोज्ञम् ॥१२॥

सारे के सारे ग्रह नियम में बँधे हुए (से) अपने सुनिश्चित परिक्रमा-पथ पर निरन्तर चलते रहते हैं और उनमें से कोई भी एक जो अपने नैसर्गिक तथा मनोहर रमणीय गुण को (जैसे अग्नि दाहकता को, चन्द्र शीतलता को, सूर्य ऊष्मा एवं प्रकाश को) क्षण भर के लिये भी नहीं छोड़ता है ।

ऋतस्य विद्ध्यत्र महाप्रभावम्
ऋतं तदेकं ग्रहशक्तिमूलम् ।
ऋतानुगामी निखिलो निसर्गः
ऋतञ्च जानीहि मम स्वरूपम् ॥१३॥

उस सन्दर्भ में ऋत का ही महान् प्रभाव समझो । एकमात्र वही ऋत (ब्रह्माण्डीय नियम) सारे ग्रहों की शक्ति का मूलस्रोत है । सारी प्रकृति ऋत का अनुसरण करती है । उस ऋत को ही मेरा स्वरूप (विग्रह) समझो ।

ग्रहोत्करे देवगणेऽन्तरिक्षे
संस्थापितो यो नियमोऽनिवार्यः ।
समुच्यते वत्स ! ऋतं स एव
तदेव सत्यं किल जीवलोके ॥१४॥

ग्रह-मण्डल में, देवयोनि में तथा अन्तरिक्ष में (भुवः स्वः महः जन तपः तथा सत्यलोकादि से सम्बद्ध) जो अनिवार्य नियम स्थापित किया गया है, हे वत्स ! उसी को ऋत कहा जाता है । मृत्युलोक में उसी को निश्चित रूप से 'सत्य' कहा जाता है ।

सूर्यस्तपत्येव न शैत्यमेति
शैत्यं ददात्येव विधुर्न तापम् ।

अग्निर्ज्वलत्येव मरुत्प्रवाति
क्रमेण रात्रिश्च दिनं क्रमेते ।।१५।।

सूर्य मात्र तपता ही है, शीतलता को प्राप्त नहीं होता । चन्द्रमा शीतलता ही प्रदान करता है, ताप नहीं । अग्नि जलता ही है । वायु बहता ही है । रात और दिन क्रमशः आते-जाते रहते हैं ।

यथाक्रमं यच्च समापतन्ति
वर्षादिकाः षड्ऋतवो मनोज्ञाः ।
ऋतप्रभावैः किल सर्वमेतद्
ब्रह्माण्डतल्पे घटतेऽभिरामम् ।।१६।।

वर्षा इत्यादि छहों रोचक ऋतुएँ अपने-अपने क्रम से आती रहती हैं । ब्रह्माण्ड-तल्प में यह सब कुछ 'ऋत' के प्रभावों से ही मनोहर रूप में घटता रहता है ।

विलासकान्तारमुपेयुषीद्धे
वसन्तकाले निखिलप्ररोहाः ।
दलानि पुष्पाणि नवानि मूर्ध्नि
वहन्ति यत्तन्महिमा ऋतस्य ।।१७।।

समृद्ध वसन्त ऋतु के विलास-वन में अवतीर्ण होते ही सारे के सारे पेड़-पौधे जो शीर्ष पर नूतन पर्णों एवं पुष्पों को धारण कर लेते हैं—वह ऋत का ही माहात्म्य हैं ।

तापोष्मणा यन्न गभस्तिमाली
लोकं दहत्याशु पिपीलकाभम् ।
तच्चापि जानीहि ऋतप्रमाणं
को वाऽन्यथा स्याद्ग्रहशक्तियन्ता ।।१८।।

गभस्तिमाली सूर्य अपने ताप की ऊष्मा से जो संसार को चींटी की तरह क्षण भर में भून नहीं डालता, उसे भी (तुम) ऋत का ही प्रभाव समझो । अन्यथा ग्रहों की शक्ति का नियामक भला कौन हो सकता है ?

ऋतं बले ! तत्खलु सार्वभौमं
प्रतिष्ठितं भूमितलेऽपि सम्यक् ।
सत्याभिधानेन दधत्प्रतिष्ठां
लोके समग्रे च भृशं चकास्ति ।।१९।।

हे बले ! वही सार्वभौम (सर्वाधिक शक्तिशाली) ऋत, सत्य के नाम से प्रतिष्ठा को धारण करता हुआ, भूतल पर भी भलीभाँति प्रतिष्ठित है और समग्र लोक में पूर्ण रूप से प्रकाशमान है ।

तदेव सत्यं सुविचारमूलं
संस्कारमूलं सविवेकमूलम् ।
दैवं महो धारयितुं समर्थः
सत्येन मर्त्यो ननु जीवलोके ।।२०।।

वही (ऋतपर्याय) सत्य श्रेष्ठ विचारों का मूल है, संस्कारों का मूल है तथा श्रेष्ठ हिताहित निर्णय-शक्ति का आधार है । इस जीवलोक में निश्चय ही मनुष्य, सत्य का आश्रय लेकर, देवोचित तेजस्विता को धारण करने में समर्थ है ।

विभूतयः स्वा मयका वितीर्णाः
परोपकाराय न पीडनाय ।
न वाऽऽत्मभोगाय न सञ्चयाय
ऋतस्य सत्यस्य च रक्षणाय ।।२१।।

मेरे द्वारा अपनी सारी विभूतियाँ परोपकार के ही लिये वितरित की गई हैं, न कि (पर) पीडन के लिये ! न कि स्वयं भोग करने के लिये अथवा सञ्चित किये रहने के लिये ! वे ऋत एवं सत्य की रक्षा के लिये (प्रदान की गई हैं) ।

बध्नाति पुष्पं न दलेषु गन्धं
दिवानिशं तं वितनोत्यनल्पम् ।

मधूनि चिन्वन्ति शतप्रयासै-
र्न मक्षिकास्ताः स्वयमापिबन्ति ॥२२॥

फूल अपनी गन्ध को पंखुड़ियों में बन्द नहीं रखता। प्रत्युत रात-दिन उसे प्रभूत मात्रा में बिखेरता रहता है। मधुमक्खियाँ सैकड़ों प्रयासों से पुष्पासवों को एकत्र करती हैं। परन्तु वे उन पुष्पमधुओं को स्वयं नहीं पी जातीं।

बलाहकाः शस्यहिताय वारि
प्रदाय कुर्वन्ति प्रजोपकारम्।
ऐन्द्रं धनुर्नोदयते निजार्थम्
आह्लादयत्येव दृशः परेषाम् ॥२३॥

बलाहक (मेघ) फसलों को हरी-भरी रखने के लिये (ही) जलवर्षा करके प्रजाजनों का कल्याण सम्पादित करते हैं। इन्द्रधनुष् अपने लिये नहीं उदित होता, प्रत्युत दूसरों की ही दृष्टियों को आह्लादित करता है।

स्वनर्तनैः कस्य सुखं मयूर-
स्तनोति मेघोदयदर्शनोत्कः ?।
पिकोऽथवा पञ्चमरागगीतै-
रावर्जयत्येव मनांसि केषाम् ??२४॥

उमड़ते मेघों के दर्शन मात्र से मस्त मयूर, अपने नृत्यों से भला किसके सुख का विस्तार करता है ? अथवा कोकिल भी अपने पञ्चमराग-लसित गीतों से किसके हृदयों को बरबस आकृष्ट करता है (दूसरों के ही न !) ?

चरेऽचरे वा यमपि प्रसिद्धं
दिव्यं गुणोत्कषमवेक्षसे त्वम्।
सर्वं नु तेजो मम विद्धि वत्स !
सोऽहं गुणोत्कर्षमयो विभूतिः ॥२५॥

चर अथवा अचर प्राणी में तुम जो भी प्रसिद्ध दिव्य गुण का उत्कर्ष देख रहे हो, हे पुत्र ! उन सबको तुम बस मेरा ही तेज (प्रभाव) समझो। गुणों में उत्कर्ष उत्पन्न करने वाली विभूति मैं ही हूँ।

मदो वितीर्णो ननु सिन्धुरेभ्यो
बलञ्च दुर्वारणमप्रमेयम्।
नियंत्रणायैव तयोः परन्तु
महार्जवं चापि बले ! वितीर्णम् ॥२६॥

हे बले ! मदमत्त गजराजों को मदजल तथा अप्रमेय (अपार) अप्रतिम शक्ति मैंने ही दी है। परन्तु उन दोनों पर नियन्त्रण रखने के लिये (हाथी को) महान् आर्जव (सरलता) भी मैंने ही दिया है (अन्यथा वह अपने मद तथा बल के कारण किसी को जीने न देता)।

काकोदरेभ्यो गरलं करालं
दत्वाऽपि भीरुप्रकृतिर्वितीर्णा।
प्रायेण भीता न बिलं त्यजन्ति
स्वपन्ति नक्तन्दिवमात्मगुप्त्यै ॥२७॥

भयावह नागों को कराल विष देकर भी मैंने उन्हें भीरु (डरपोक) प्रकृति दे दी है (परिणामतः) प्रायः वे डर के मारे बिल से बाहर निकलते नहीं तथा आत्म-रक्षा के लिये रात-दिन सोते (ही) रहते हैं।

पराक्रमं रक्ततृषं दुरन्तं
कण्ठीरवभ्यः प्रवितीर्य सम्यक्।
समग्रचैतन्यहरी प्रगाढा
निद्राऽपि तेभ्यो नितरां वितीर्णा ॥२८॥

रक्त पीने की तृषा वाले कण्ठीरवों (सिंहों) को दुरन्त पराक्रम से भरपूर

सम्वलित करके भी मैंने उन्हें, समग्र चेतना का अपहरण करने वाली प्रगाढ़ निद्रा भलीभाँति दे दी है ।

जीवा न ये सन्ति विवेकवन्त-
स्तेषां निसर्गे विहितोऽभ्युपायः ।
अतो नु सर्वे स्वयमात्मशक्ति-
व्यापारणे सन्ति मनोनिरुद्धाः ॥२९॥

जो भी जीव उचित-अनुचित के निर्णय में समर्थ नहीं हैं अर्थात् विवेकहीन हैं उनके स्वभाव में ही मैंने (विवेक का) उपाय रच दिया है । अतएव अपनी नैसर्गिक शक्ति को (सन्तुलित रूप से) प्रयुक्त करने में वे सब स्वयमेव अपने मन द्वारा नियन्त्रित हैं ।

नियंत्रिताः स्युर्न यदि स्वभावै-
र्जीवा इमेऽज्ञानविवेकवन्तः ।
निश्चप्रचं क्षेमपदं धरित्री
नोऽवाप्नुयादेव भयोपपन्ना ॥३०॥

ज्ञान तथा विवेक के अभाव से ओतप्रोत ये जीव यदि अपने स्वभावों द्वारा ही नियन्त्रित न कर दिये गये होते तो निश्चय ही भय-संकुल पृथ्वी योग-क्षेम (कल्याण-मंगल) न प्राप्त कर पाती ।

परन्तु देवा असुरा नरा वा
ये सन्ति विज्ञानविवेकवन्तः ।
नियंत्रणं प्राकृतिकं न तेषां
कृतम्मया साधु मनःप्रसूतम् ॥३१॥

परन्तु देवता, असुर अथवा मानव, जो कि विज्ञान तथा विवेक से श्रीमण्डित हैं उनका नियन्त्रण न तो प्राकृतिक है और न ही सम्यक् रूप से मनःप्रसूत (स्वाभाविक) ।

तस्माद्धि ते सद्गुणसुप्रयोगैः
पुण्यं प्रकामं सहजं भजन्ते ।
ऐश्वर्यभोगान् विविधानुताहो
स्वर्गं विमुक्तिं मम वा स्वरूपम् ।।३२।।

इसीलिये वे, सद्गुणों के शोभन प्रयोग से ही, सहज भाव से प्रभूत पुण्य का संचय करते हैं, विविध ऐश्वर्य-भोगों को, स्वर्ग, मुक्ति अथवा मेरे स्वरूप को प्राप्त कर पाते हैं ।

तथैव ते दुर्गुणदुष्प्रयोगैः
पापं ह्यधर्मं निरयञ्च यान्ति ।
दुःखानि सोढ्वाऽथ वृहन्ति भूयो
गृह्णन्ति जन्म प्रहता धरित्र्याम् ।।३३।।

उसी प्रकार वे, दुर्गुणों के निन्दनीय प्रयोग से पाप, अधर्म अथवा निरय (नरक) को प्राप्त करते हैं । पुनश्च, वे बड़े-बड़े दुःखों को सह कर, आहत होकर, बारम्बार धरती पर जन्म ग्रहण करते हैं ।

पापेऽथवा पुण्यचयेऽधिकारो
बले ! वरीवर्ति विवेकभाजाम् ।
सञ्जायते कर्मविपाकबन्ध-
स्तेनैव तस्मात्प्रसमीक्ष्य कार्यम् ।।३४।।

वत्स बलि ! विवेक सम्पन्नों अर्थात् उचित-अनुचित के निर्णयों से अवगत लोगों का पापकर्म अथवा पुण्यसम्भार (के सञ्चय) में अपना अधिकार (स्वातन्त्र्य) होता है । उसी (पाप अथवा पुण्य के) व्यवहार से उनके कर्मविपाक का बन्धन उत्पन्न होता है । अतएव सोच-विचार कर ही (मनुष्य को) कार्य करना चाहिये ।

यो वै ममैश्वर्यविभूतिभाजां
प्रणवव्रजाणां विभवक्षमाणाम् ।

बले ! विधत्ते किल दुष्प्रयोगं
परार्तिसंक्षोभकरं नृशंसम् ॥३५॥

हे बले ! वैभवों की सृष्टि में समर्थ, मेरे ऐश्वर्य तथा विभूति से ओतप्रोत सद्गुण-समूहों का जो कोई भी व्यक्ति ऐसा दुष्प्रयोग करता है जो कि परायों को आर्ति (कष्ट) तथा संक्षोभ-कर प्रतीत हो अथवा नृशंस हो ।

तुदत्यलं मां स च विश्वमूर्तिं
देवोऽसुरो वाऽप्यथवा मनुष्यः ।
तद्गर्वनाशाय कृतावतार
उपैम्यहं दैन्यधरां धरित्रीम् ॥३६॥

वह चाहे देवता हो, असुर अथवा मनुष्य हो—परन्तु विश्वमूर्ति मुझको ही पीड़ित करता है । उसी के गर्व को चूर करने के लिये, अवतार लेकर मैं दैन्य में डूबी पृथ्वी पर आता रहता हूँ ।

सैषा प्रवृत्तिर्मम हृद्यरूपा
दृष्टान्तभूता प्रकृतावपि स्यात् ।
न कोऽपि भेदो मयि मन्निसर्गे
योऽहं स एवास्ति बले ! निसर्गः ॥३७॥

मनोहर रूप वाली मेरी यही प्रवृत्ति, दृष्टान्त रूप में प्रकृति में भी विद्यमान है । वत्स बले ! मुझमें तथा मेरे निसर्ग (प्रकृति) में कोई भेद नहीं है । जो मैं (स्वयं) हूँ, मेरा निसर्ग भी वही है ।

निदाघदाहोऽतितरां प्रवृद्धो
यदा दहत्येव समग्रलोकम् ।
दन्दह्यमानो निखिलां धरित्रीं
सन्तप्तगर्भां विदधात्यनल्पम् ॥३८॥

पराकाष्ठा पर आरूढ ग्रीष्म ऋतु का दाह जब सारे जवार को भस्म करने लगता है तथा दहकती हुई आग की तरह सारी धरती को, प्रभूत रूप से सन्तप्त हृदय वाली बना देता है।

तदा महावारिधरोऽहमभ्रं
द्रुतं समागत्य विधाय भूमिम्।
प्रचण्डवर्षैर्नितरां हिमाद्रै-
राह्लादिनीं ग्रीष्ममदं हरामि ॥३९॥

तभी महामेघ बन कर मैं, द्रुतगति से नभोमण्डल में उतर कर, हिमशीतल धारासार प्रचण्डवर्षाओं से, पृथ्वी को आह्लादिनी बना कर ग्रीष्म ऋतु का मद हर लेता हूँ।

प्राप्तास्त्वया चापि बले! स्वपुण्यै-
र्विभूतयो मे नितरां प्रशस्ताः।
परन्तु तासामकरोर्निकामम्
उद्वेजकं दारुणदुष्प्रयोगम् ॥४०॥

वत्स बले! तुमने भी अपने पुण्यों के कारण मेरी प्रशंसनीय विभूतियों को निरन्तर प्राप्त किया। परन्तु तुमने उनका अत्यन्त (लोक को) उद्विग्न करने वाला, दारुण दुष्प्रयोग किया।

कुले जनिस्सात्त्वतवैष्णवानाम्
ऐश्वर्यमूर्ध्वं महितोऽधिकारः।
महातपाश्चापि गुरुर्महिष्ठो
भार्या च पातिव्रतशीलयुक्ता ॥४१॥

सात्त्वत विष्णुभक्तों के कुल में जन्म, महार्घ राज्यैश्वर्य, लोकसम्मत अधिकार, महातपस्वी श्रेष्ठतम कुलगुरु तथा पातिव्रत एवं शील से अलंकृत पत्नी!

रूपञ्च कान्तिश्च गुणा महार्घाः
किन्न त्वया प्राप्तमतिप्रमाणम् ?
तथापि यत्त्वं न विवेकमूलं
सिषेविषे वत्स ! ततोऽसि बद्धः ॥४२॥

रूप-सौन्दर्य, तेजस्विता तथा महामूल्यवान् गुण-समूह ! भला कौन सी वस्तु तुमने मात्रा से अधिक नहीं प्राप्त की ? फिर भी जो तुमने विवेकरूपी वृक्ष की जड़ का सेवन नही किया, वत्स बले ! इसीलिये तुम बन्धनग्रस्त हुए ।

सुखं त्वया काङ्क्षितमात्महेतोः
स्वबन्धुहेतोरथ वर्गहेतोः ।
आसीन्न दोषो ननु तत्र कोऽपि
नानौचिती काऽपि न चाऽप्यधर्मः ॥४३॥

तुमने अपने लिये, अपने बन्धु-बान्धवों के लिये तथा अपने वर्ग (राक्षस जाति) के लिये सुख चाहा । निश्चय ही उसमें कोई भी दोष नहीं था । न कोई अनौचित्य था न ही अधर्म ।

परन्तु देवान् परिपीड्य चण्डं
विद्राव्य संहृत्य मदाभिभूतः ।
यदात्मसौख्यं जह्रिषे स्वसक्त-
स्तत्रैव दोषस्तत एव बद्धः ॥४४॥

परन्तु राजमद से अभिभूत होकर, आत्मरतिसम्पन्न तुमने जो देवताओं को नृशंस रूप से खदेड़ कर और मार कर, अपना सुख प्राप्त किया, उसी में दोष था और उसी कारण तुम बन्धनग्रस्त हुए ।

बले ! विभूतेर्मम सुप्रयोगात्
यस्या भृशं जीवति जीवमानो ।

तामेव लोके किल दुष्प्रयुज्य
प्राणानपि स्वान् शिथिलीकरोति ॥४५॥

हे बले ! मेरी जिस विभूति के मंगलमय प्रयोग से प्राणी सुखपूर्वक जीवित रहता है उसी का, लोक में अमंगलमय प्रयोग करके वह अपने प्राणों को भी शिथिल बना देता है ।

नक्तन्दिवं भैरवनागतुण्डं
तुम्बीरवैः संभ्रमयन्निकामम् ।
क्वचित्प्रमादादहिनैव दष्टो
मृत्युव्यथां जाङ्गलिकोऽभ्युपैति ॥४६॥

रात-दिन, भयावह नाग के फन को, तुम्बी (महुअर) की सुरीली आवाज से, इच्छानुकूल नचाने वाला मदारी भी कभी-कभी चूक हो जाने पर नाग के डँसने से ही मृत्यु की व्यथा को प्राप्त करता है ।

यैरेव कण्ठामृतचारुयोगैः
प्राप्नोत्युदारां जगति प्रतिष्ठाम् ।
निगृह्य तैरेव शुकश्शलाका-
गृहेऽर्प्यते शाकुनिकैर्नृशंसैः ॥४७॥

कण्ठ से निकले जिन अमृतमय रुचिकर स्वरों के कारण शुक (सुआ) संसार में स्वाभाविक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उसी (गुण के) कारण, नृशंस बहेलियों द्वारा फाँस कर, पिंजरे में बन्द भी कर दिया जाता है ।

क्षणं विसोढुं जलविप्रयोगं
क्षमो न यं स्यात्किल सिन्धुमत्स्यः ।
व्याजेन तेनैव पृथग्जलेभ्यः
कृत्वा निषादैरभिहन्यतेऽपि ॥४८॥

सागर में रहने वाला मत्स्य जिस जल के विछोह को, क्षण भर के लिये भी सह पाने में समर्थ नहीं हो पाता है उसी बहाने (उपाय) से, मछुवारों द्वारा पानी की लहरों से अलग करके मार (भी) डाला जाता है।

फलैर्निजैर्भूमितलं स्पृशद्भि-
र्बध्नाति नेत्राणि रसालशाखो।
तैरेव किन्तु व्यथते निकामं
पाषाणखण्डैः प्रहतः खलानाम् ॥४६॥

भूतल का संस्पर्श करते अपने (गदराए) फलों द्वारा आम्रवृक्ष (दर्शकों की) दृष्टियों को बाँध लेता है। परन्तु उन्हीं (फलों) के कारण, दुष्टों के पाषाणखण्डों की मार से आहत होकर अतिशय पीड़ित भी होता है।

दधन्नु यद् वज्रकठोरचर्म
वैशिष्ट्यमूर्ध्वं तनुते प्रकामम्।
आहन्यते हन्त तदर्थमेव
द्वीपी नृशंसै रणकर्मदक्षैः ॥५०॥

वज्र के समान कठोर जिस चर्म को धारण करता हुआ गैंडा श्रेष्ठ वैशिष्ट्य को भरपूर प्रकाशित करता है उसी चमड़े के लिये, रणकर्म-दक्ष नृशंस (सैनिकों) द्वारा मारा जाता है (क्योंकि उसके चमड़े से ही ढाल बनती है)।

ऊष्मार्थमग्निः परिचीयतेऽद्धा
तेनैव दोषेण निवाप्यतेऽपि।
जलानि संगृह्य घनो विभाति
तान्येव मुक्त्वा भवति प्रणष्टः ॥५१॥

जिस ऊष्मा की प्राप्ति के लिये ही सचमुच आग सेंकी जाती है उसी दोष के कारण (अधिक गर्मी लगने पर) बुझा भी दी जाती है। जलराशियों को संकलित

करके ही बादल बनता है और उन्हीं को बरसा कर (स्वयं) अस्तित्वहीन भी हो जाता है।

भूपोऽसुरः स्याद्विबुधो नरो वा
स्वविक्रमैर्मानयशस्तनोति ।
परोपकारप्रवणैः प्रजानां
भव्यावसक्तैश्शमनाऽभ्युपायैः ॥५२॥

राजा चाहे असुर हो, देवता अथवा मनुष्य ! वह अपने पराक्रमों, परोपकार-प्रवण तथा प्रजाजनों के कल्याणकार्यों में प्रयुक्त शान्तिस्थापना-परक उपायों द्वारा ही मान तथा यश का विस्तार करता है।

समृद्धिशक्तिप्रतिभाप्रकर्षै-
स्सहात्मनैवाऽभ्युदयं समेषाम् ।
करोति चेन्नूनमसौ सुवन्द्यः
इन्द्रोऽसुरेन्द्रोऽप्यथवा नरेन्द्रः ॥५३॥

समृद्धि, शक्ति तथा प्रतिभा के प्रकर्षों द्वारा जो अपने साथ ही साथ औरों का भी अभ्युदय सिद्ध करता है, निश्चित रूप से वही वन्दनीय है। वह चाहे (देवराज) इन्द्र हो, चाहे असुरेन्द्र या फिर नरेन्द्र !

किन्त्वभ्युदीते यदि विश्वशान्ति-
ध्वंसाय कस्यापि मदान्धशक्तिः ।
वृद्धिङ्गतोऽप्याशु विनाशमेति
स्वयंक्षयी सः परयैव शक्त्या ॥५४॥

परन्तु यदि किसी (नरेश) की मदान्ध शक्ति विश्वशान्ति के विनाशार्थ प्रस्तुत हो उठती है तो स्वयंक्षयी वह अपनी अप्रतिम शक्ति के कारण ही, उन्नति-शिखर पर आरूढ होते हुए भी, शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

न मद्विभूतिः परपीडनायै
न चाप्यहंकारमदानुभूत्यै ।
न लोकशान्तिस्खलनाय नो वाऽ-
न्यथाप्रयोगाय कदर्थनाय ।।५५।।

मेरी विभूति परपीडन के लिये नहीं है और न ही दुरभिमान तथा मद की अनुभूति के लिये ! न वह समाज की शान्ति भंग करने के लिये है और न ही दुरुपयोग तथा कदर्थना के लिये ।

युग्मकम्

रूपं गुणं बुद्धिमुदारकीर्ति
शक्तिं समृद्धिं कवनं कलां वा ।
गन्धर्वविद्यां श्रुतितंत्रमंत्रं
विज्ञानयंत्रं च नभोरहस्यम् ।।५६।।

रूप, गुण, बुद्धि, स्वाभाविक कीर्ति, सामर्थ्य, समृद्धि, कवित्व अथवा कला ! गन्धर्वविद्या (संगीतक) वेदविद्या, तन्त्र एवं मन्त्र, यन्त्रविज्ञान तथा नाभिकीय रहस्यज्ञान ।

सम्प्राप्य देवो दनुजो नरो वा
सर्वोदयं साधयते यदीद्धः ।
स मे प्रियो नश्यति नोऽर्धमार्गेऽ-
प्यकुण्ठकीर्ति लभते जगत्याम् ।।५७।।

को प्राप्त कर यदि कोई सम्पन्न देवता, दानव अथवा मनुष्य सर्वोदय की सिद्धि करता है (अर्थात् सबके कल्याण में प्रवृत्त होता है तो) वही मुझे प्रिय है । वह आधे रास्ते में संकटापन्न नहीं होता तथा संसार में अक्षुण्ण यश प्राप्त करता है ।

त एव सम्प्रत्यपि जीवमाना
विभान्ति लोकेषु यशोऽवशेषाः ।

विभूतयो मे किल सुप्रयुक्ता
यैर्लोकसिद्ध्यै जनरक्षणाय ॥५८॥

संसार में जिनका यश ही शेष रह गया है (अर्थात् जो मर चुके हैं) वे आज भी जीवित लोगों के समान प्रतिष्ठित हैं जिन्होंने मेरी विभूतियों का प्रशंसनीय उपयोग लोक-सिद्धि तथा जन-रक्षा के लिये किया।

शान्तिः स्वचित्ते भवने स्वराष्ट्रे
महीतले सिन्धुनभोऽन्तरिक्षे।
त्रैलोक्यमध्येऽण्डकटाहके वा
शक्या ततः सच्चरितेन शक्तेः ॥५९॥

वस्तुतः शक्ति के कल्याणात्मक उपयोग से ही शान्ति (स्थापना) सम्भव है— अपने मन में, घर में, राष्ट्र में, संसार में, समुद्र-आकाश तथा अन्तरिक्ष में, तीनों लोकों में तथा (समूचे) ब्रह्माण्ड में।

सर्वोदयस्थापनयत्नदक्षे
शक्त्युच्चये नूनमहं निविष्टः।
यतोऽखिलं विश्वमिदं मयिस्थं
शान्ते नु तस्मिन्नहमेव शान्तः ॥६०॥

शक्ति का जो संचय, सर्वोदय (सारे संसार के कल्याण) की स्थापना के प्रयत्नों में केन्द्रित है, निश्चय ही मैं (भी) उसी में निविष्ट हूँ। चूँकि यह सारा संसार मुझमें ही समाया हुआ है, अतः संसार के शान्त होने से, मानों मैं ही शान्त हूँ।

इति निगदति वामने वटौ रहसि हरौ प्रभविष्णुनायके।
बलिहृदि तरणिर्महोज्ज्वलः स्फुटमुदियाय तमोविनाशकः ॥६१॥

प्रभविष्णुओं में अग्रणी, श्रीहरि वटुरूपधारी भगवान् वामन द्वारा एकान्त में यह सदुपदेश देने पर, दैत्यराज बलि के हृदय में (अज्ञानरूपी) अन्धकार का विनाशक, महाप्रकाश--सम्पन्न (ज्ञानरूपी) सूर्य स्पष्ट रूप से उदित हो उठा।

**समधिकविशदं बलेर्मनो हृतपरितापचयं सुखावहम् ।**
**जलनिधिमिलितं नदीजलं स्थिरगति जातमवाप्य सम्बलम् ॥६२॥**

सुख से ओतप्रोत, सन्ताप-समूह से विरहित तथा अत्यधिक निर्मल बलि का मन सम्बल (श्रीहरि की कृपा) को प्राप्त कर, उसी प्रकार स्थिर गति वाला बन गया, जैसे नदी का जल सागर से मिलकर स्थिर हो उठता है।

**हरिवदनविनिःसृतं वचस्त्रिभुवनशान्तिगवेषणाश्रितम् ।**
**ऋतविभवसमन्वितञ्च तत् बलिहृदयं सदयं समादधे ॥६३॥**

तीनों लोकों में शान्ति-स्थापना करने के लिये क्रियाशील, ऋत की महिमा से समन्वित, भगवान् वामन के मुख से निकली उस वाणी ने दैत्यराज बलि के सदय (करुणाप्लावित) हृदय को समाहित कर लिया।

**जयजयजयजीवेत्यनारतं स्फुटनिनदस्समकर्णि यज्वनाम ।**
**कुसुमनिकरवर्षणैस्ततो मखपरिषच्छुशुभे समन्ततः ॥६४॥**

'जय हो ! जय हो ! जय हो ! चिरञ्जीव !' यज्ञ करने वाले अध्वर्युओं का यह सुस्पष्ट, अनवरत घोष गूँज उठा। तदनन्तर, पुष्पसमूह की वर्षाओं से यज्ञवाट चारों ओर से सुशोभित हो उठा।

**हृदयकलुषकल्मषापहं हरिवचनामृतभूरिवर्षणम् ।**
**श्रवणचुलुकपायिनो जनाः सदसि ननन्दुरुशीरशीतलाः ॥६५॥**

हृदय के पाप-कलुष को नष्ट कर देने वाले, श्रीहरि के वचनामृत के प्रभूत वर्षाजल को अपने श्रवण (कान) रूपी चुलुक से पीने वाले, उशीर (खस) के समान शीतल हुए लोग, यज्ञमण्डप में आनन्दविभोर हो उठे।

**यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे**
**क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजो सुतम् ।**

श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽऽनघम् ।।६६।।

वन्दनीया अभिराजी ने अपनी सीपी जैसी कोख में, मोती के समान व्यक्तित्व वाले, कवित्व के शिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया, देवेन्द्र तथा सुरेन्द्र के बीच मणि के समान वही राजेन्द्र मिश्र अपने हृत्परितोष के लिये, देववाणी के माध्यम से, भगवान् त्रिविक्रम का निष्पाप यशोगान कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।६७।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, विल्हण कवि की सदुक्तियाँ जिसका पुष्पपुञ्ज हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अभिराजराजेन्द्ररूपी वह निसर्गजात काव्यतरु चिरञ्जीवी हो ।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
ऋतमहात्म्याभिधो पञ्चदशः सर्गः ।

# षोडशः सर्गः

वैष्णवीं समुपदेशनां नु तां प्राप्य सान्द्रघनसारशीतलाम् ।
आन्तरं खलु सुखं विलक्षणं सन्दधे बलिरुपात्तविश्रमः ।।१।।

पुञ्जीभूत कर्पूर के समान शीतल उस वैष्णवी समुपदेशना को प्राप्त कर, हार्दिक विश्रान्ति प्राप्त करने वाले बलि ने, एक आन्तरिक विलक्षण सुख का अनुभव किया।

भार्यया स्वजनमण्डलैर्वृतो वामनीयपदपङ्कजेऽप्युभे ।
सोऽसकृच्च परिपूज्य पावनीः शीर्षके किल निजेऽग्रहीदपः ।।२।।

अपनी भार्या (विन्ध्यावलि) तथा स्वजनों से समावृत उस बलि ने भगवान् वामन के चरण-कमल-युगल को विधिवत् समर्चित कर, पवित्र जल-राशियों को अपने शीश पर धारण किया।

प्रस्थितोऽथ बलिरात्मनिर्जितः स्वीयवंशमहितैः पितामहैः ।
सत्कृतः स्वकुलजैश्च सङ्गतः सौतलं प्रथितलोकमाश्रयम् ।।३।।

इसके अनन्तर, अपने कुलपूज्य पितामह (महात्मा प्रह्लाद) द्वारा सत्कृत तथा अपने वंशज बन्धु-बान्धवों से संगत, आत्मनिष्ठ बलि ने, अपने आश्रय (निवासस्थान) प्रख्यात सुतललोक को प्रस्थान किया।

झल्लरीपणवदुन्दुभिस्वरैः वल्लकीक्वणनमेदुरैस्ततः ।
अश्वमेधमखमण्डपाजिरं पूरितं जयजयेतिवाचिकैः ।।४।।

तदनन्तर (बलि के प्रस्थान करते ही) वीणा की झनझनाहट से घनीभूत झल्लरी, पणव (नगाड़ा) तथा दुन्दुभि के घोषों से, साथ ही साथ, 'जयजयकार' की वाणी से वह अश्वमेध-यज्ञमण्डप का प्रकोष्ठ संकुल हो उठा।

**प्रस्थितें सुतललोकमुन्नतं वैष्णवं दितिकुलाम्बुजारुणम् ।**
**व्योम्नि वीक्ष्य ववृषुर्बलिम्मुदा पुष्पकाणि सुरसिद्धचारणाः ।।५।।**

देवी दिति के वंशरूपी अम्बुज के लिए भास्कर-सदृश, विष्णु-भक्त (दैत्यराज) बलि को, प्रख्यात सुतललोक की ओर प्रस्थित देख कर आकाशमण्डल में देवताओं, सिद्धों तथा चारणों ने प्रसन्नतापूर्वक पुष्पों की वर्षा की ।

**भार्गवं तदनु वामनोऽवदत् प्रत्यवाय इह यो मयाऽध्वरे ।**
**मध्य एव विधिनोपपादितो मेदिनीं त्रिपदगां नु काङ्क्षता ।६।।**

बलि के प्रस्थानान्तर भगवान् वामन ने भृगुवंशोत्पन्न (कुलगुरु) शुक्र से कहा—तीन डग के बराबर पृथ्वी का दान चाहते हुए, मेरे द्वारा इस अश्वमेध-यज्ञ में, उपाय का आश्रय लेकर जो बीच में ही विघ्न उत्पन्न कर दिया गया ।

**स त्वया निगमरीतिपूर्वकं मर्षणीय इह भार्गवोत्तमः !**
**छिद्रमण्वपि बलेर्मखे यथा नो भवेत्किमपि दोषकारकम् ।।७।।**

हे भार्गववंश-भूषण ! वह सारा यज्ञदोष आप द्वारा वेद-सम्मत रीति से मर्षणीय है ताकि दैत्यराज बलि के अश्वमेध-यज्ञ में अणुमात्र भी दोषकारक छिद्र (कमी) न रह जाय ।

**तां निशम्य मृदुवैखरीं हरेः सन्दधद्बलिरतिं यशस्विनीम् ।**
**सादरं सविनयं विदां वरः शुक्र आशु निजगाद मोदितः ।।८।।**

बलि के प्रति प्रीति व्यक्त करने वाली, भगवान् वामन की उस यशस्विनी तथा मिठास भरी वाणी को सुन कर, विद्वद्वरेण्य भगवान् शुक्राचार्य ने आह्लादित होकर तत्काल ही आदर एवं विनयपूर्वक कहा ।

**देव ! यज्ञपुरुषस्सनातनो यज्ञकर्मविधिसाक्षिकोऽथवा ।**
**त्वं प्रभो ! न किल कोऽप्यथेतरः पूज्यसेऽमितमखैस्त्वमेव हि । ९।।**

हे देव ! आप सनातन यज्ञपुरुष हैं अथवा यज्ञकर्म की विधियों (अनुष्ठानों) के साक्षी हैं। निश्चय ही ऐसा कोई और नहीं है। असंख्य यज्ञों द्वारा आप ही समर्चित किये जाते हैं।

**संस्थिते त्वयि मखेश्वरे स्वयं हन्त नाथ ! कुत एव सम्भवा ?**
**अध्वरे विषमता लघीयसी सूक्ष्मकाऽपि मखकीर्तिहारिणी ??१०।।**

आश्चर्य है नाथ ! यज्ञों के उपास्यदेवता, स्वयमेव आपके उपस्थित रहने पर (दैत्यराज बलि के) इस अश्वमेध-यज्ञ में यज्ञ की कीर्ति का अपहरण करने वाली, सूक्ष्मातिसूक्ष्म छोटी सी भी विषमता, भला कैसे संभव है ?

**मंत्रतंत्रविधिदेशकालतो जायते नु यदि काऽप्यसङ्गतिः।**
**तां प्रभो ! सपदि दाम्यति ध्रुवं केवलन्नु तव नामकीर्तनम् ।।११।।**

मंत्र तथा तंत्र की विधि से अथवा देश एवं काल के प्रभाव से (किसी यज्ञ में) यदि कोई असंगति (दोष) पैदा भी हो जाती है तो हे प्रभो ! उसे मात्र आपका नाम-कीर्तन, निश्चित रूप से, तत्क्षण विनष्ट कर देता है।

**मार्जनं तदपि शास्त्रसम्मतं सोऽहमत्रभवदाज्ञया कृतौ।**
**श्रेयसे ननु विशाम्पतेर्बलेः कारयामि भवतां वशंवदः ।।१२।।**

तथापि आपका वशंवद मैं, प्रजापति महाराज बलि के कल्याणार्थ इस महायज्ञ में, आपकी आज्ञा से, शास्त्रसम्मत अघमर्षण निश्चित रूप से शीघ्र ही सम्पन्न कराऊँगा।

**गोष्पदीकृतपयोनिधे हरे ! विश्वरूप ! ननु विश्वभावन !**
**को नु वेत्तुमिह साधु शक्ष्यति त्वां परं पुरुषमात्मसंस्थितम् ??१३।।**

क्षीरसागर को भी गोष्पद (गाय के खुर से निर्मित लघु विवर) बना देने वाले हे विश्वरूप ! हे विश्वभावन ! श्रीहरि ! आत्मसंस्थित परम पुरुष आपको ठीक-ठीक समझ पाने में भला कौन समर्थ हो पायेगा ?

**सर्व एव निगमागमा विभो ! शास्त्रकाव्यनिपुणाः कवीश्वराः ।**
**ज्ञातुमेव नितरां चिचीषवः किन्तु को नु खलु वेद पुष्कलम् ??१४।।**

हे प्रभो ! सारे के सारे निगम (वेदत्रय) एवं आगम (शास्त्र) तथा शास्त्र एवं काव्य में पारंगत कवीश्वर-गण आपको जानने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील हैं । परन्तु भलीभाँति (आपको) कौन जान सका ?

**पार्थिवैर्निखिलबन्धनैः प्रभो ! मुक्त एव तदपीयमीदृशी ।**
**स्वीकृता बलिमदोपशान्तये वामनी तनुरहो नु विस्मयः !!१५।।**

हे परमात्मन् ! आप समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हैं फिर भी बलि के दुरभिमान को शान्त करने के लिये, आपने इस प्रकार के वामन-शरीर को धारण किया ! सचमुच (यह देख कर) विस्मय हो रहा है ।

**वारिवाह उपयात्यनारतं संस्थले नियतमुच्चकावचे ।**
**किन्तु नो स्वयमुपैति तादृशं भावमात्मनि सदा समञ्जसः ।।१६।।**

वर्षाकारक मेघ निरन्तर ही ऊँचे (पर्वतों) तथा नीचे (घाटियों) स्थानों में निश्चित रूप से पहुँचता रहता है परन्तु स्वयं वैसी स्थिति (उच्चावच) को नहीं धारण करता । अपने में वह समञ्जस ही रहता है ।

**सर्वथा त्वमपि देव ! मानवीं सङ्गतोऽपि तनुकर्मभावनाम् ।**
**मर्त्यभावचयवासनाग्रहैः स्पृश्यसे न खलु बन्धुरैरिह ।।१७।।**

हे देव ! ठीक उसी प्रकार आप भी मानवोचित शरीर, कर्म तथा भावना को प्राप्त होते हुए भी, इस संसार में, मनुष्यों जैसी भावनाओं तथा वासना के आग्रहों (प्रभावों) से संस्पृष्ट नहीं होते ।

**कर्मणां किल गुणानुरोधिनी या प्रसक्तिरिह दृश्यते प्रभो !**
**सा कथं त्वयि भवेन्नु सम्भवा निर्गुणे निखिलबन्धनाद्बहिः ।।१८।।**

हे स्वामी ! इस संसार में कर्मों की जो गुणानुरोधिनी आसक्ति दिखाई पड़ती है वह भला गुणत्रय-विहीन तथा समस्त (सांसारिक) बन्धनों से मुक्त आप में कैसे संभव है ?

मर्त्यलोकमुपयासि सन्ततं स्थापनाय सुकृतस्य माधव !
वर्धते सपदि येन गौरवं स्पष्टमेव वसुधानुरञ्जनम् ॥१९॥

हे माधव ! पुण्य (धर्म) की संस्थापना के लिए आप निरन्तर धराधाम पर अवतीर्ण होते रहते हैं जिससे कि भूलोकानुरंजन करने वाला आपका गौरव, स्पष्टतः वेगपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होता है ।

क्ष्मापतिः प्रकृतिवत्सलो यथा गूढवेषविकृतिं ह्युपेयिवान् ।
स्वप्रजाकुशलमङ्गलाग्रही हिण्डतेऽलघु यथा क्वचिन्निशि ॥२०॥

अपनी प्रजा का कुशल-मंगल जानने को उत्कण्ठित कोई प्रजावत्सल नरेश जैसे विकृत प्रच्छन्न-वेष को धारण कर रात्रि-वेला में कभी-कभी निरन्तर भटकता रहता है ।

लज्जते न विकृतिं विलोकयन् क्लिश्यते न घनवीथिसञ्चरैः ।
सर्वमेव सहते निराकुलो राजगौरववितीर्णजीवितः ॥२१॥

(परन्तु) अपनी विकृति को देखते हुए भी न तो लज्जित होता है और न ही सँकरी गलियों में घूमने से क्लेश का अनुभव करता है प्रत्युत राजोचित गौरव (दायित्वनिर्वाह) से प्राणों को धारण करता हुआ, शान्त भाव से सब कष्टों को सह लेता है ।

हन्त देव ! भुवनैकपालक ! मर्त्यलोकसुखसिद्धिदीक्षित !
मेदिनीं त्वमपि वीक्ष्य दुःखितां हिण्डसे प्रथितवेषविक्रियः ॥२२॥

आश्चर्य है नाथ ! हे भुवनैकपालक !भूलोक की सुखसिद्धि के लिए बद्ध-परिकर ! आप भी पृथ्वी को दुखी देख कर, विकृत वेषों को धारण कर अवतरित होते रहते हैं ।

कच्छपत्वमपि जातु मण्डितं मत्स्यरूपमपि शंसितं त्वया ।
विग्रहोऽथ च महावराहकोऽङ्गीकृतो झटिति भूरिनिन्दितः ।।२३।।

आपने कभी कच्छप शरीर को भी मण्डित किया, कभी मत्स्य रूप को भी सम्मान दिया और उसके अनन्तर अत्यन्त हेय महावराह के शरीर को भी अंगीकार किया ।

अद्भुतं तदनु विस्मयावहं ब्रह्मसृष्टिनिचयेऽप्यगोचरम् ।
नारसिंहमपि रूपमञ्चितं भक्तभक्तिभजनानुकीर्तये ।।२४।।

उसके वाद, भक्त (प्रह्लाद) भक्ति तथा भजन की महिमा स्थापित करने के लिये, आपने ब्रह्मा की सृष्टि-परम्परा में सर्वथा अगोचर (अदृष्ट) अद्भुत एवं आश्चर्यजनक नृसिंह-रूप को अलंकृत किया ।

साम्प्रतं निखिललोकविस्तृतं स्वात्मरूपमिह खर्वविग्रहे ।
ऐन्द्रजालिकनिभोऽनुसंहरन् राजसे बलिबलं समापयन् ।।२५।।

और अव, जादूगर के समान, सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त अपने महाविराट स्वरूप को इस बौने शरीर में समेट कर, बलि के बल को समाप्त करते हुए आप सुशोभित हो रहे हैं ।

सर्व एव तव वल्गुविग्रहा वारिजेक्षण ! विभूतिहेतवः ।
जन्मिनामधिधरं ततः प्रभो ! शोकतापशमने निरंकुशाः ।।२६।।

हे कमलनयन ! आपके सारे के सारे मनोहर रूप ऐश्वर्य के हेतुभूत हैं । इसलिये हे प्रभो ! इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों के शोक एवं ताप के शमन में वे निरंकुश (अत्यन्त समर्थ) हैं ।

**यन्मया निगमशास्त्रलोचनैस्तन्त्रमन्त्रतपसां समुच्चयैः ।**
**योगसिद्धिकरणैरवेदि तद् गौरवं तव निकामदुर्लभम् ॥२७॥**

वेदों एवं शास्त्रों के परिशीलन से, तंत्र-मंत्र एवं तपश्चर्या के सञ्चयों से तथा योगसिद्धि के उपायों से जो कुछ मैं जान पाया तुम्हारा वह गौरव (माहात्म्य) अत्यन्त दुर्लभ है ।

**दैत्यवंशगुरुरस्मि सम्मतस्त्वं पुनर्निखिललोकसद्गुरुः ।**
**गौरवं सकलगौरवास्पदं केवलं त्वयि विभो ! समाहितम् ॥२८॥**

मैं (तो मात्र) दैत्यवंश का समादृत गुरु हूँ परन्तु आप तो समस्त संसार के सद्गुरु हैं । (अन्य) समस्त गौरवों का अधिष्ठानभूत गौरव तो हे प्रभो ! बस आप में ही समाहित है ।

**भार्गवोऽहमुशना रमापते ! सन्नतोऽस्मि तव पादपङ्कजे ।**
**मां समुद्धर विधेहि मार्दवं कल्मषं शमय भक्तवत्सल !!२९॥**

हे रमापते ! मैं भृगुवंशोत्पन्न उशना (शुक्र) आपके चरणकमलों में समर्पित हूँ । हे भक्तवत्सल ! मेरा उद्धार कीजिये ! मुझ पर आर्द्र बनिये तथा (मेरे) पाप का शमन कीजिये ।

**भृगुकुलनलिनार्कः सर्वशास्त्रप्रवीणो**
**दनुजकुलपुरोधास्तीर्थमुख्योऽपि शुक्रः ।**
**स्खलनमुखरवाचा निर्यदश्रुप्ररोहः**
**सदयमुदितभक्तिस्साधु तुष्टाव विष्णुम् ॥३०॥**

(तदनन्तर) भृगुवंशरूपी कमलपुष्प के लिए सूर्यस्वरूप, समस्त शास्त्रों में पारंगत, विद्वदग्रगण्य, विगलित अश्रुधारा से भीगे हुए, जागृत भक्तिभावना से ओतप्रोत दानववंश के पुरोहित शुक्राचार्य ने लड़खड़ाती हुई सुस्पष्ट वाणी में, भगवान् नारायण की भलीभाँति स्तुति की ।

अचिन्त्यचिन्तनास्पदं ह्यसाध्यसाधनास्पदं
अवेद्यवेदनास्पदं ह्यदृश्यदर्शनास्पदम् ।
सदर्थितक्षमातलं कदर्थितभ्रमाचलं
नमामि विश्वविग्रहं हृदुद्यमाय वामनम् ।।३१।।

अचिन्त्य चिन्तनों, असाध्य साधनाओं, अवेद्य (अज्ञेय) वेदनाओं (भावनाओं) तथा अदृश्य दर्शनों के अधिष्ठानभूत, भूमण्डल को कृतार्थ करने वाले, भ्रान्तियों के पर्वत को भी कदर्थित (निरस्त) करने वाले विश्वरूप भगवान् वामन को मैं अपने हृदय के उद्यमार्थ प्रणाम करता हूँ।

रवीन्दुतारकावलीनवग्रहाभ्रदामिनी-
पयोधिभूधरापगावनीनिपानमण्डितम् ।
समग्ररोदसीच्छविव्रजैश्छविल्लतां परां
विवर्धयन्तमाश्रये दृगुद्यमाय वामनम् ।।३२।।

सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्रमण्डल, नवग्रह, मेघ, विद्युत, सागर, पर्वत, नदी तथा सरोवरों से (महाविराट स्वरूप में) श्रीमण्डित, सम्पूर्ण द्यावा-पृथ्वी के शोभा-समूह से अपनी श्रेष्ठ छविल्लता (नागरवृत्ति) को संवर्धित करते हुए भगवान् वामन को मैं अपने नेत्रों के प्रमोदार्थ, वरण करता हूँ।

पदेन सत्यलोकगेन पावितान्तरिक्षकं
अधःस्थितेन नन्दितक्षमातलं कृतोत्सवम् ।
परोक्षमक्षिगोचरं समिद्धबुद्धिसंशयं
महैन्द्रजालिकं भजे धियश्शमाय वामनम् ।।३३।।

सत्यलोक को पहुँचने वाले (अपने) एक चरण से अन्तरिक्ष को पवित्र कर देने वाले, नीचे स्थित (दूसरे) चरण से उत्सव की संरचना करते हुए, भूतल को आह्लादित करने वाले, परोक्ष (सूक्ष्म) होते हुए भी अक्षिगोचर (स्थूल) बुद्धि के संशय को बढ़ाने वाले महा ऐन्द्रजालिक (मायावद्) भगवान् वामन को मैं अपनी मनीषा के उपशमार्थ प्रणाम करता हूँ।

पदावनेजनाम्बुजातकल्मषापहारण-
प्रकामदक्षसिद्धसिन्धुबन्धुरप्ररोचनम् ।
सुलोचनं विरोचनात्मजस्य पाशमोचनम्
उपेन्द्रमाश्रयेऽनिशं मनश्शमाय वामनम् ॥३४॥

चरण के प्रक्षालन-जल से उत्पन्न, पापापनोदन में पूर्ण समर्थ सिद्धसिन्धु (गंगा) के कारण कौतुकयुक्त प्ररोचनाओं (प्रशस्तियों) वाले, सुन्दर नेत्रों वाले, विरोचनपुत्र बलि के पाश को शिथिल करने वाले भगवान् उपेन्द्र (इन्द्र के अनुज) वामन का मैं मानसिक-सान्त्वना की प्राप्ति के लिए सतत आश्रय लेता हूँ।

प्रहृष्टजाम्बवन्निनादितोर्ध्वभेरिनिस्सर-
त्प्रवृद्धचण्डनिःस्वनप्रकीर्णजंत्रघोषणम् ।
शुभेक्षणं विरोचनात्मजाय दत्तशिक्षणं
कृतक्षणं समाश्रये बृहज्जयाय वामनम् ॥३५॥

पुलकित (ऋक्षराज) जाम्बवान् द्वारा जोर से वजाई गई भेरी से निकलने वाली उत्तरोत्तर प्रतिध्वनित प्रचण्ड ध्वनि से चतुर्दिक विस्तारित की गई विजयघोषणा वाले, कल्याणमयी दृष्टि वाले, विरोचनपुत्र बलि को (विनय की) शिक्षा प्रदान करने वाले तथा महोत्सव प्रस्तुत करने वाले भगवान् वामन का मैं, प्रभूत अभ्युदय (पाने के लिये) शरणागत हूँ।

उपेन्द्रमिन्द्रसोदरं महर्षिकश्यपात्मजं
तथापि देवमर्त्यलोकसर्जकं परार्थतः ।
विलक्षणं प्रगूढजन्मकौशलं सुधाञ्चलं
निजागसां विभञ्जनाय नौमि वामवामनम् ॥३६॥

महर्षि कश्यप (एवं देवी अदिति) के पुत्र होते हुए भी जो परमार्थतः देवलोक एवं मर्त्यलोक के सर्जक हैं, जो इन्द्र के सहोदर उपेन्द्र (उनके लघु भ्राता) हैं, जो रहस्यमय जन्मकौशल वाले, विस्मयावह तथा अमृतमय हैं—ऐसे कमनीय वटु वामन को मैं, अपने अपराधों के क्षमापन-हेतु प्रणाम करता हूँ।

खतुल्यभूरिविस्तरं रजोऽणुकल्पलाघवं
महानगेन्द्रगौरवं महापयोधिसौष्ठवम् ।
विरुद्धभावदूषितं समञ्जसत्वभूषितं
गुणत्रयाभिभावकं भजे सुखाय वामनम् ॥३७॥

आकाश के समान प्रभूत विस्तार वाले, धूलिकण के समान लघुता वाले, विशाल पर्वत के समान गुरुता-युक्त तथा महासागर के समान सौष्ठव (सुषमा) से भूषित, (परस्पर) विरोधी भावों से (आपाततः) दूषित परन्तु (तत्वतः) समञ्जसता से अलंकृत तथा सत्त्वादि गुणत्रय को भी अभिभूत कर देने वाले भगवान् वामन को मैं, सुखप्राप्ति के लिये भजता हूँ ।

कृतविशदसपर्यो वाचिकैः स्वैरुदारै-
र्हरिचरणनिलीनो भार्गवोऽभून्निकामम् ।
करकमलवितीर्णैः स्पर्शसौख्यैश्च विष्णो-
र्निखिलहृदयतापस्तस्य तूर्णं शशाम ॥३८॥

(इस प्रकार) अपने उदार वचनों द्वारा निर्मल संस्तवन करके भार्गव शुक्राचार्य श्रीहरि के चरणों में, पूर्ण तन्मयता के साथ समर्पित हो उठे । उनका सारा का सारा हृदय-सन्ताप, भगवान् वामन के करकमलों द्वारा वितीर्ण किये गये संस्पर्श-सुखों से क्षण भर में ही शान्त हो गया ।

विदितहरिविभुत्वो दृष्टसम्यक्प्रभावो
निजहृदयविकारान् साम्प्रतं गर्हमाणः ।
भुवनपतिकराग्रैः प्राप्य संस्पर्शसौख्यं
दनुजकुलपतित्वं सार्थकं साधु मेने ॥३९॥

श्रीहरि की विभुता को जान लेने वाले तथा उनके भरपूर माहात्म्य को (प्रत्यक्ष) देख लेने वाले (श्रीहरि के प्रति पूर्वस्थित) अपने हृदय-विकारों की सम्प्रति निन्दा करते हुए, भुवनपति नारायण के करतलों द्वारा संस्पर्श-सौख्य को प्राप्त कर (भगवान् शुक्राचार्य ने) अपने दैत्यवंश के कुलपतित्व (पौरोहित्य) को पूर्ण सार्थक मान लिया ।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम् ।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणी राजेन्द्रमिश्रो ऽन्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ।।४०।।

वन्दनीया देवी अभिराजी ने अपनी सीपी जैसी कोख में मोती जैसे शरीर वाले कवित्व-शिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया देवेन्द्र एवं सुरेन्द्र के मध्य मणिस्वरूप वही राजेन्द्रमिश्र अपनी हार्दिक सन्तुष्टि के लिये, देववाणी के माध्यम से, भगवान् वामन के निष्कलंक यश का गायन कर रहा है ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।४१।।

कविकुलगुरु कालिदास की कविता जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी तना है, जयदेव की देववाणी पत्र-समूह है, विल्हण की उक्तियाँ पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा जिसका पवित्र फल है—अभिराजराजेन्द्ररूपी वह स्वयंजात काव्यतरु चिरजीवी हो ।

।। इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ।।
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
शुक्रशरणागत्यभिधः षोडशः सर्गः ।

●●

# सप्तदशः सर्गः

याते बलौ सुतललोकमथ प्रतिष्ठां
सम्प्राप सिद्धविजयोऽप्यमरावतीशः ।
उद्‌गीथगायनपुरस्सरमन्वितोऽसौ
देवैर्विवेश नगरीं सुरराजधानीम् ॥१॥

दैत्यराज बलि के सुतललोक में चले जाने पर, विजय प्राप्त करने वाले अमरावतीश्वर इन्द्र ने (पुनः) प्रतिष्ठा प्राप्त की। आगे-आगे वेदमंत्रों का गायन कराते हुये, देवमण्डली से समन्वित वह (देवराज) सुर-राजधानी अमरावतीपुरी में प्रविष्ट हुए।

भ्रात्रे निवेद्य निखिलां मुषितां समृद्धिं
संस्थाप्य शान्तिमतुलां सुरदैत्यसंघे।
श्रीवामनोऽपि विनतः प्रणनाम गत्वा
वन्द्यादितिं स्वजननीमनघञ्च तातम् ॥२॥

(दैत्यों से) छीनी गई सम्पूर्ण समृद्धि अग्रज इन्द्र को अर्पित कर, देवताओं तथा दानवों के संघों में अतुलनीय शान्ति स्थापित कर, भगवान् वामन ने भी विनत-भाव से जाकर अपनी जननी वन्दनीया अदिति को तथा निष्पाप पिताश्री (महर्षि कश्यप) को प्रणाम किया।

गन्धर्वसिद्धपितृचारणकिन्नराद्यै-
र्देवर्षियक्षनिवहैर्दिवि भूमिपालैः।
सप्तर्षिभिस्सविनयं बहुशोऽनुरुद्धः
पित्रोस्सुखाय भुवनस्य च पूर्णतृप्त्यै ॥३॥

गन्धर्वों, सिद्धों, चारणों, पितरों तथा किन्नरादिकों द्वारा देवता ऋषि एवं यक्ष-मण्डल द्वारा, स्वर्गस्थ राजर्षियों तथा सप्तर्षि-मण्डल द्वारा (अपने) माता-पिता को

सुखी करने तथा भुवनमण्डल की पूर्ण तृप्ति के लिये भगवान् वामन की विनय से परिपूर्ण प्रभूत प्रशंसा की गई।

श्रीवामनं निखिललोकपतिं विधाता
चक्रेऽभिषिच्य सलिलैर्निविदाप्रपूतैः।
सद्धर्मवेदविबुधोत्सवमङ्गलानां
कीर्तिश्रियाञ्च पतिमूर्जितवैभवानाम् ॥४॥

वेदमंत्रों से पवित्रित जलराशियों से अभिषिक्त करके, ब्रह्मा ने निखिल लोकपति भगवान् वामन को सद्धर्मों, वेदों, देवोत्सवों, देवमंगलों, कीर्तियों, लक्ष्मियों (शोभाओं) तथा देदीप्यमान वैभवों का स्वामी बनाया।

इन्द्रस्ततो ह्यनुमतो विधिना पितृभ्या-
मारोह्य विश्वपतिमात्मविमानमाशु।
स्वर्गाङ्गनाकुसुमवर्षणवल्गुवीथीं
दिव्यां पुरीं दिविषदां द्रुतमानिनाय ॥५॥

इसके अनन्तर, पितामह ब्रह्मा तथा माता-पिता की अनुमति से देवराज इन्द्र विश्वपति श्री वामन को तत्क्षण ही (पुष्पक) विमान पर बैठा कर, देवाङ्गनाओं की पुष्पवृष्टि के कारण रमणीय, देवताओं की दिव्यपुरी अमरावती में ले आये।

सिंहासनं मणिमयं ननु वैजयन्ते
हर्म्योत्तमे निजसहोदरमूर्ध्वकीर्तिम्।
आरोह्य पार्षदगणैस्सह तं ननन्द
कातर्ज्ञ्यभारविनतो मघवा प्रवृद्धः ॥६॥

श्रेष्ठ राजप्रासाद वैजयन्त में (स्थापित) मणिमय सिंहासन पर, ऊर्ध्वकीर्ति वाले अपने सहोदर (वामन) को बैठाकर कृतज्ञता के भार से अवनत (परन्तु सम्प्रति) समुन्नत मघवा (इन्द्र) ने अपने पार्षद-गणों के साथ उनका अभिनन्दन किया।

साम्राज्यमानविभवैर्महितोपकारं
कुर्वाणमात्मसहजं सदयं ववन्दे ।
ज्येष्ठोऽपि वृत्रविजयी विनतश्शचीश-
स्तेजस्वितैव बहुमाननिमित्तमेकम् ॥७॥

(अवस्था एवं क्रम में) ज्येष्ठ होते हुये भी वृत्रासुर-जयी विनयावनत शचीपति ने, साम्राज्य, सम्मान तथा ऐश्वर्य से महान् उपकार करने वाले अनुज (वामन) की करुणाभाव से अभ्यर्थना की । क्योंकि तेजस्विता ही आदर का एकमात्र कारण होती है ।

संस्थापितं पुनरभून्महितं त्रिलोक्यां
राज्यं पुरन्दरधृतं गुरुणोपदिष्टम् ।
स्वर्गे प्रयाति महिमानमृतेऽथ पूते
सत्यं प्रतिष्ठितमभूत्स्वयमेव पृथ्व्याम् ॥८॥

देवगुरु बृहस्पति द्वारा व्यवस्थापित तथा सम्यक् रूप से स्थापित पुरन्दर (इन्द्र) द्वारा धारण किया गया साम्राज्य त्रिलोकी में पुनः समादृत हो उठा । स्वर्ग-लोक में पवित्र ऋत के प्रतिष्ठित होते ही सत्य भी भूलोक में स्वयमेव प्रतिष्ठित हो उठा ।

सम्मन्त्र्य देवगुरुणा सह कृत्यभारं
प्रादात्पृथक्पृथगमर्त्यपतिः सुहृद्भ्यः ।
उद्घोष्य देवजनतन्त्रधरां त्रिमूर्तिं
विष्णुप्रजापतिनगेन्द्रसुतापतीनाम् ॥९॥

देवगुरु बृहस्पति के साथ मंत्रणा करके देवराज इन्द्र ने अपने सहयोगियों को अलग-अलग दायित्व का भार सौंपा । उन्होंने नारायण, प्रजापति (ब्रह्मा) तथा शिव की त्रिमूर्ति को ही देव-लोकतंत्र का आधार उद्घोषित किया ।

सेनापतिर्दिविषदां ननु कार्त्तिकेयः
ख्यातो रणोद्धरबलः शिखिवाहनोऽभूत् ।

वित्तेशतामुपययौ धनदोऽलकेशो
द्वारि स्थितौ विशदयन् किल शंखपद्मौ ।।१०।।

समरभूमि में दारुण पराक्रम प्रदर्शित करने वाले, प्रख्यात मयूरवाहन कार्त्तिकेय देवताओं के सेनापति नियुक्त हुये। अलकापुरीश्वर धन कुबेर, जिनके भवनद्वार पर शंख एवं पद्म सरीखे अलंकरण विद्यमान थे, वित्तेश (वित्तमंत्री) बनाये गये।

भैषज्यतंत्रसचिवौ यमजौ नियुक्तौ
सौन्दर्यमार्दवधरौ वडवाकुमारौ।
लेभे सदाचरणशीलऋताधिकारं
पाशी महार्घवरुणस्सलिलाधिवासः ।।११।।

सौन्दर्य तथा कोमलता से ओतप्रोत जुड़वे भाई दोनों अश्विनीकुमार भैषज्यतंत्र के सचिव (स्वास्थ्यमंत्री) नियुक्त हुए तथा जल के अधिदेवता, पाश धारण करने वाले महामहिम वरुण को सदाचार, शील एवं ऋत (ब्रह्माण्डीय नियमबद्धता) का अधिकार सौंपा गया।

प्राणार्थिनां निखिलकर्मविपाकतंत्रं
तत्पापपुण्यगणितञ्च फलानुभोगम्।
सर्वं ददर्श सचिवीकृतचित्रगुप्तो
देवो यमो महिषवाहनधर्मराजः ।।१२।।

प्राण धारण करने वाले समस्त जीवों के कर्मविपाक-तंत्र, उनके पाप एवं पुण्य का लेखा-जोखा तथा उनका फलोपभोग देखने के लिए महिष-वाहन धर्मराज भगवान् यम को नियुक्त किया गया तथा चित्रगुप्त को उनका सचिव बना दिया गया।

दायित्वमाप गृहशिल्पकलादिकानां
स्थापत्यसेतुवलभीप्रतिमालयानाम् ।

शिल्पीश्वरोऽमिततयशा ननु विश्वकर्मा
भृत्यैर्मयादिदनुजैर्नितरां समृद्धः ॥१३॥

अपने सेवकों मय आदि दानवों से निरन्तर समृद्ध, अपार कीर्ति वाले शिल्पीश्वर विश्वकर्मा ने गृहनिर्माण, चतुष्षष्टि कलाओं, स्थापत्यकर्मों, सेतुओं, वलभियों तथा प्रतिमालयों (मन्दिरा के निर्माण) का दायित्व प्राप्त किया।

वैश्वानरः स्वयमुवाह कुटुम्बसौख्य-
मंत्रालयं गृहवतां गृहमङ्गलाय।
दायित्वमाप पवनः फलपुष्पशस्य-
वर्षादिकस्य परिणामयिता ऋतूनाम् ॥१४॥

गृहस्थों के गृहमंगलार्थ भगवान् अग्निदेव ने स्वयं परिवार-कल्याण का मंत्रालय स्वीकार किया। ऋतुओं का परिवर्तन करने वाले पवनदेव ने फल-पुष्प, खेती-बारी तथा वर्षादि का दायित्व प्राप्त किया।

शिक्षां दधार स्वयमेव गुरुस्सुराणां
वाचस्पतिर्निगमशास्त्रगतिप्रवीणः।
विश्वावसुर्व्यतिकरान् किल संस्कृतीनां
सम्प्राप नृत्यलयवाद्यसमाश्रितानाम् ॥१५॥

वेदो एवं शास्त्रों की गति में प्रवीण, वाणी के अधिपति देवगुरु बृहस्पति ने स्वयं शिक्षा को ग्रहण किया। (गन्धर्वराज) विश्वावसु ने नृत्य, लय, वाद्य से समलंकृत संस्कृति-सम्बन्धी मामलों को प्राप्त किया।

तत्रापि नृत्यविषये प्रमदोर्वशी सा
वाद्येषु तुम्बुरुरथ प्रथितौ च बन्धू।
हाहा हुहू स्वरलयेऽधिकृतौ नितान्तं
ख्याति परामुपययुः पुरुहूततंत्रे ॥१६॥

उस संस्कृति के महकमे (विभाग) में भी देवराज इन्द्र की शासनव्यवस्था में, नृत्यविषय में प्रख्यात देवाङ्गना उर्वशी, तंत्रीवाद्य में तुम्बुरु तथा स्वर-लय-युक्त गायन में गन्धर्वबन्धुद्वय हाहा तथा हूहू ने श्रेष्ठ ख्याति प्राप्त की।

इन्द्रस्स्वयं त्रिभुवनेशपदाधिरूढः
ऐश्वर्यमङ्गलसुखानि विशां द्युलोके।
नित्यं ररक्ष धरणावपि सौमनस्यं
वर्षाः कृषिञ्च सविशेषमसौ ददर्श ॥१७॥

स्वयमेव इन्द्र ने, त्रिभुवनेश के पद पर आरूढ़ होकर स्वर्गलोक में रहने वाले प्रजाजनों (देवजातियों) के ऐश्वर्य, मंगल तथा सुख का दायित्व सँभाला। उन्होंने भूलोक में भी सौमनस्य (सुख-शान्ति) की रक्षा की तथा विशेष रूप से वर्षा एवं कृषि की व्यवस्था को देखा।

निःश्रेयसाय नियुयोज तपोधनानां
सप्तर्षिमण्डलमसौ निगमागमज्ञम्।
धुर्योऽङ्गिराः क्रतुपुलस्त्यमरीच्यगस्त्या
जाता वसिष्ठपुलहावपि यत्सदस्याः ॥१८॥

पारलौकिक कल्याण के (अभ्युदय के) लिए देवराज ने निगम एवं आगम के रहस्यों में पारंगत, तपस्वियों के सप्तर्षि-मण्डल को नियुक्त किया। उस मण्डल के सदस्य थे—अग्रणी महर्षि अंगिरा, क्रतु, पुलस्त्य, मरीचि, अगस्त्य, वसिष्ठ तथा पुलह।

सर्वा दिशो दृढतया परिपातुकामो
दिक्पालकान् कुलिशपाणिरसौ युयोज।
काष्ठाश्च ता उपगता प्रथिताभिधानं
नाम्नैव रक्षणवतां विबुधेश्वराणाम् ॥१९॥

वज्रपाणि उस देवराज इन्द्र ने, समस्त दिशाओं को दृढ़तापूर्वक संरक्षित करने के लिये दिक्पालों को अभिषिक्त किया। वे (विभिन्न) दिशाएँ रक्षा करने वाले देवेश्वरों के नाम से ही प्रख्यात-संज्ञा को प्राप्त हो गईं।

प्राचीं जुगोप मघवा स्वयमेव मुख्यां
याम्यां दिशं रविसुतो वरुणः प्रतीचीम्।
काष्ठां ररक्ष धनदो विशदामुदीचीं
शम्भ्वग्निवायुनिर्ऋतिप्रमुखाश्च कोणान् ॥२०॥

मुख्य दिशा प्राची को स्वयमेव इन्द्र ने रक्षित किया। सूर्यपुत्र यम ने दक्षिण दिशा को, वरुण ने प्रतीची (पश्चिम) दिशा को, धनद कुबेर ने निर्मल उदीची (उत्तर) दिशा को, तथा शम्भु-अग्नि-वायु तथा निर्ऋति ने दिक्कोणों को सुरक्षित किया।

ब्रह्माण्डसृष्टिलयभव्यपरस्य विष्णो-
श्चक्रं सुदर्शनमसौ सुरराजचिह्नम्।
अंगीचकार भवनं ननु राजकीयं
दिव्यं विलासविभवोच्छ्रितवैजयन्तम् ॥२१॥

देवराज इन्द्र ने, ब्रह्माण्ड की रचना, संहार तथा पालन करने वाले भगवान् नारायण के (आयुध) सुदर्शन चक्र को देवसाम्राज्य का 'राजचिह्न' स्वीकार किया। विलास तथा वैभव से भरे-पुरे 'वैजयन्त' नामक दिव्य राजप्रसाद को राजकीय-भवन निश्चित किया।

दिव्यं पशुं स विदधेऽक्षतकामधेनुं
दिव्यं विहङ्गममसौ कृतवान् सुपर्णम्।
दिव्यां धुनीं द्युतरङ्गिनीमथ पारिजातं
दिव्यं जुघोष मघवा सुरराजवृक्षम् ॥२२॥

देवराज इन्द्र ने अक्षय्य कामधेनु को 'दिव्यपशु', पक्षिराज सुपर्ण (गरुड) को 'दिव्य पक्षी', स्वर्ग-नदी गंगा को 'दिव्य-सरिता' तथा पारिजात को 'दिव्य-ऐन्द्र वृक्ष' स्वीकार किया।

दिव्यां लतां स वृतवानथ सोमवल्लीं
पेयञ्च सोमरसमध्वरमंत्रपूतम् ।
भक्ष्यं हविष्यममलञ्च पुरोडशाख्यं
दिव्यं क्रतुं विबुधसम्मतसोमयागम् ॥२३॥

सोमलता को इन्द्र ने 'दिव्यलता' के रूप में वरण किया तथा 'दिव्यपेय' के रूप में यज्ञ-मंत्रों से परिपूत सोमरस को ! पुरोडाश नामक पवित्र हविष्यान्न को 'दिव्यभक्ष्य' तथा विबुध-सम्मत सोमयाग को 'दिव्यक्रतु' स्वीकार किया ।

दिव्यं पयोधिमवृणोत्किल दुग्धसिन्धुं
दिव्याचलं स विदधे प्रथितं सुमेरुम् ।
दिव्यायुधं कुलिशमस्थिकृतं दधीचे-
दिव्यञ्च मासमकरोत्पुरुषोत्तमाख्यम् ॥२४॥

(देवराज इन्द्र ने) क्षीरसमुद्र को 'दिव्यपयोधि', प्रख्यात सुमेरु पर्वत को 'दिव्याचल', महर्षि दधीचि की हड्डियों से बने वज्र को 'दिव्यआयुध' तथा पुरुषोत्तम नामक मास को 'दिव्यमास' घोषित किया ।

ऐरावतं विबुधसिन्धुरमश्वरत्नम्
उच्चैश्रवोऽभिधमसौ ववृते सुखाय ।
दिव्यं मणिं स हरिवक्षसि कौस्तुभाख्यं
दिव्यं सरश्च मघवाऽकृत मानसाख्यम् ॥२५॥

मघवा ने ऐरावत को 'दिव्यगज', उच्चैःश्रवा नामक अश्व को 'दिव्याश्व', विष्णु के वक्षःस्थल पर विराजमान कौस्तुभ नामक मणि को 'दिव्यमणि' तथा मानसरोवर को 'दिव्यपुष्कर' वरण किया ।

कृत्वा हिमाचलमसौ विबुधाधिवासं
स्वर्गाधिरोहणसृतिं द्युनदीञ्च गङ्गाम् ।

सोपानवीथिमनघां दिवि सारयन्तीं
स्वर्गं भुवञ्च मघवा युगपद् बबन्ध ।।२६।।

हिमाचल को देवताओं का निवासस्थान बनाकर तथा स्वर्ग की ओर अग्रसर होती निष्पाप सोपानवीथी जैसी देवनदी गंगा को स्वर्गाधिरोहण की सरणि घोषित कर, देवराज इन्द्र ने स्वर्ग एवं पृथ्वी (लोक) को परस्पर बाँध दिया।

संरक्षितं त्रितयतोऽपि नदत्समुद्रैः
सह्याद्रिविन्ध्यतुहिनाचलसन्धिबन्धम् ।
क्षोणीतलोत्तममसौ विषयं जुघोष
देवावतारनिलयं ननु भारताख्यम् ।।२७।।

तीनों दिशाओं (पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम) में गरजते समुद्रों से संरक्षित, सह्याद्रि-विन्ध्य तथा हिमाचल के सन्धिबन्धन से अलंकृत, उत्तम भूमितल भारतवर्ष को इन्द्र ने (भगवान् श्रीहरि के) दिव्यावतारों का निलयभूत देश घोषित किया।

निर्माय देवसचिवां प्रथितां समज्यां
संस्थाप्य सर्वमपि शासनसंविधानम् ।
इन्द्रश्शशास भुवनत्रयमूर्ध्वतेजा-
स्सद्धर्मसत्यऋतपाः शमितेतिभीतिः ।।२८।।

(वरुणादि) देवमंत्रियों वाले श्रेष्ठ मंत्रिमण्डल का निर्माण करके तथा सम्पूर्ण शासन-संविधान को संस्थापित करके—ईति तथा भीति को समाप्त कर देने वाले, सद्धर्म-सत्य तथा ऋत की रक्षा करने वाले ऊर्ध्व तेजस्वी इन्द्र ने तीनों लोकों पर शासन करना प्रारम्भ किया।

इन्द्रे प्रशासति सुखं प्रबभूव नित्यं
कालानुसारि हृदयाधिहरं समेषाम् ।
भेदो न कोऽपि समलक्ष्यत मृत्युवर्जं
मर्त्यामरेषु युगपच्च समन्वितेषु ।।२९।।

देवराज इन्द्र के शासन की अवधि में सभी प्राणियों को अविच्छिन्न, अवसरानुकूल तथा हृदयावर्जक सुख प्राप्त हुआ। परस्पर समन्वित देवताओं तथा मनुष्यों में, एक मृत्यु को छोड़ कर, कोई और भेद दृष्टिगोचर नहीं होता था।

यज्ञैर्हविष्यमहितैः प्रथिताश्वमेधैः
सोमैश्च विश्वविजिताऽथ च वाजपेयैः।
इन्द्रादिदैवतगणान् ततृपुः पृथिव्यां
भूपाः सुराश्च विदधुर्मुदितास्सुभक्ष्यम् ॥३०॥

हविष्यान्न से संवर्धित, प्रख्यात अश्वमेधों, सोमयागों, विश्वजित् तथा वाजपेय यज्ञों द्वारा नरपतियों ने भूलोक में, इन्द्रादि देवसमूहों को सन्तृप्त किया (जिसके बदले में) प्रसन्न हुए देवों ने (पृथ्वी पर) खुशहाली उत्पन्न कर दी।

देवान् समर्च्य मनुजा अतुलां समृद्धि
मानं यशश्च समवापुरथ प्रतिष्ठाम्।
देवाश्च तुङ्गशिखरालयसुप्रतिष्ठा
भक्तान्मुदाऽभिलषितैर्विभवैर्ननन्दुः ॥३१॥

देवताओं को समर्चित कर मनुष्यों ने (उनकी कृपा से) अतुलनीय समृद्धि, मान, यश तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त किया। ऊँचे शिखरों वाले देवालयों में प्रतिष्ठित (शिव, विष्णुप्रभृति) देवों ने भी प्रसन्नतापूर्वक अपने (समर्चक) भक्तों को मनोवांछित ऐश्वर्यों द्वारा अभिनन्दित किया।

कापट्यशाठ्यछलवञ्चनदैन्यपीडा-
सद्धर्मनाशपरवित्तसुतापहाराः।
सर्वेऽपि दैत्यपतिशासनतंत्रदोषाः
पौरन्दरे महसि सिद्धिमिते विदद्रुः ॥३२॥

कपट, शठता, छल, वञ्चना, दीनता, पीड़ा, सद्धर्मनाश, परवित्तापहरण तथा परसुतापहरण—सारे के सारे दैत्यपति बलि के शासनतंत्र के दोष देवराज इन्द्र के प्रताप के समुदित होते ही लुप्त हो गये।

अङ्गैश्चतुर्भिरथ सत्यतपोऽध्वरार्थैः
सज्जीकृतः समुपगम्य परां प्रतिष्ठाम्।
धर्मो रराज महितो दिवि मर्त्यलोके
सौराज्यरञ्जितमनाश्शुशुभे धरित्री ॥३३॥

सत्य, तप, यज्ञ तथा दान—इन चारों अंगों से समन्वित धर्म सर्वोपरि प्रतिष्ठा को प्राप्त कर, महिमान्वित होकर स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में विराजमान हो उठा तथा सौराज्य से अनुरञ्जित मन वाली पृथ्वी प्रफुल्लित हो उठी।

नाभूत् स्वभावविकृतिर्न च कालदोषो
नो वा प्रकृत्यपचयो न च मानभङ्गः।
साध्ये सतां न समलक्ष्यत जात्वसिद्धिः
कल्याणकृन्न खलु दुर्गतिमाप कोऽपि ॥३४॥

(पुरन्दर के राज्य में) किसी के स्वभाव में विकृति (परिवर्तन) नहीं होती थी। न काल-दोष होता था (अर्थात् ग्रीष्म, शीतादि काल अपना नियत प्रभाव ही प्रकट करते थे) न प्रकृति में अपचय (जैसे वृक्षों में फल का न आना) होता था न ही मान-प्रतिष्ठा में भंग। सत्पुरुषों को अपने साध्य (कर्म) में कभी भी असफलता नहीं प्राप्त होती थी और कोई भी कल्याणकृत् व्यक्ति निश्चित रूप से दुर्गति (अपमान) नहीं प्राप्त करता था।

सत्कर्मपुञ्जभुवमुर्वरतां दधानां
पर्याप्तशस्यहरिता सफला सुनीरा।
रत्नप्रसूश्च नितरां शुशुभे वहन्ती
सृष्टिं चतुष्प्रकृतिकां वितता धरित्री ॥३५॥

सत्कर्म-समूह से उत्पन्न होने वाली उर्वरता को धारण करती हुई, प्रभूत हरी-भरी फसलों से हरितवर्णा, सुन्दर फलों वाली, स्वादु जलवाली तथा रत्नों को उगलने वाली, चतुर्विध (अण्डज-पिण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज) सृष्टि का वहन करती हुई विशाल धरित्री सुशोभित हो उठी।

वर्णाः स्थिताः स्वसरणावुदयं पृथिव्यां
निःश्रेयसञ्च समवापुरभीष्टरूपम् ।
मेघा यथावसरमेव दधुस्सुवृष्टि
सूर्यस्तताप सुसहं न गतिं ललङ्घ ॥३६॥

अपनी सरणि (मार्ग) पर आरूढ़ चारों वर्णों ने मनोवांछित रूप वाले (लौकिक) अभ्युदय तथा (पारलौकि) निःश्रेयस को प्राप्त किया । बादल अवसरानुकूल ही वर्षा करते थे तथा सूर्य भी सहन योग्य ही ताप उत्पन्न करता था तथा गति (मर्यादा) का उल्लंघन नहीं करता था ।

मार्तण्डचन्द्रपवनाग्निजलैश्च नित्यं
वर्षातपर्तुनिवहैश्च रसान्नपानैः ।
देवोपकारसुखि विश्वमिदं प्रकुर्वन्
इन्द्रो रराज पृथिवीपतिवन्द्यपादः ॥३७॥

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि तथा जल द्वारा, वर्षा एवं ग्रीष्मादि ऋतुओं द्वारा तथा रस अन्न एवं पान द्वारा इस संसार को निरन्तर देवोपकारों से सुखी बनाता हुआ, पृथ्वीपतियों द्वारा वन्दनीय चरण वाला इन्द्र शोभायमान हो उठा ।

प्राप्ताष्टसिद्धिनिचया ऋषयो धरातो
जग्मुर्दिवं सपदि सूक्ष्मवपुःप्रविष्टाः ।
नित्यं विहारमनसो ह्यमृतान्धसोऽपि
क्षोणीमुपाययुरहो परमस्वतन्त्राः ॥३८॥

आठों सिद्धियों के समूह में पारंगत ऋषिगण, सूक्ष्म-शरीर में प्रविष्ट होकर भूलोक से क्षण भर में स्वर्ग पहुँच जाया करते थे और इसी प्रकार विहार-परायण चित्तवृत्ति वाले परम स्वतन्त्र देवगण भी प्रायः पृथ्वी पर आते रहते थे ।

युग्मकम्

दिव्येन भूरिमहसा वसुधामपीमां
सत्कर्तुमेव नवपार्थिवराजवंशाः ।

सूर्यादिभिः प्रवितता भुवि देवतुल्या
दाक्षिण्यदानविनयार्जवशौर्यदक्षाः ।।३९।।

सूर्यादि देवों से प्रवर्तित (अतएव) भूलोक में देवतुल्य प्रतिष्ठा वाले, दाक्षिण्य, दान, विनय, आर्जव तथा शौर्य (प्रदर्शन) में दक्ष, अभिनव भूलोकस्थित राजवंशों वाले 'प्रख्यात' नृपगण अपने दिव्य पुष्कल-तेजस् से इस वसुन्धरा को भी सम्मानित करने के लिये ।

आमंत्रिताः क्वचिदहो नमुचिद्विषा ते
देवासुरोग्रसमरे प्रथिताः क्षितीशाः ।
हत्वाऽसुरान् विजयिनोऽर्धपदं विटङ्के
मन्दारमाल्यविभुताञ्च दधुर्मघोनः ।।४०।।

कभी-कभी नमुचि-द्वेषी इन्द्र द्वारा भयावह देवासुर-सग्राम में (सहायतार्थ) आमन्त्रित होकर, असुरों का विनाश करके विजयी बनकर, देवराज इन्द्र के सिंहासन का अर्धांश तथा (इन्द्र द्वारा पहनाई गई) मन्दारमाला की प्रतिष्ठा को प्राप्त करते थे ।

अन्योऽन्यसाह्यविनियोगविभावनैश्च
स्वर्गो धरामवततार मुदाऽवनम्रः ।
स्वर्गं रुरोह वसुधाऽपि तथैव सोत्का
ह्येवं द्वयोः स्थिरमभूच्चिरजीवि सख्यम् ।।४१।।

पारस्परिक साहचर्य, विनियोग (एक के हित के लिये दूसरे का प्रयोग) तथा विभावनों (समादरों) से अवनमित स्वर्ग (मानो) प्रसन्न होकर धरा पर उतर आता था । उसी प्रकार उत्कठित पृथ्वी भी स्वर्ग में आरूढ हो उठती थी । इस प्रकार (स्वर्ग एवं पृथ्वी) दोनों का चिरजीवी सख्य सुस्थिर हो उठा था ।

देवाननन्तविभवान् प्रणतो ययाचे
वन्द्यं धरातलसदां सदयं सदैव ।

वृद्धश्रवा मम दधातु सुखानि वज्री
पूषा दधातु कुशलानि स विश्ववेदाः ॥४२॥

भूतल पर रहने वाले मानवों का समुदाय सदैव ही प्रणत होकर, सदय भाव से, अनन्त ऐश्वर्यों वाले देवताओं से अभ्यर्थना किया करता था—'पुष्कल कीर्ति वाला वज्रधारी इन्द्र हमें सुख प्रदान करे ! सर्वज्ञ वह पूषा देवता हमें योग-क्षेम प्रदान करे'।

तार्क्ष्यो दधातु मम भव्यमरिष्टनेमिः
स्वस्त्यादधातु मम भूरि बृहस्पतिस्सः ।
नासत्यमित्रवरुणप्रमुखाश्च सर्वे
देवाः सुखानि वितरन्तु निरन्तरम्मे ॥४३॥

अरिष्टनेमि तार्क्ष्य (गरुड) हमारा मंगल करे । प्रख्यात बृहस्पति हमारे प्रभूत कल्याण को धारण करे । अश्विनीकुमार, मित्र तथा वरुणादि समस्त प्रमुख देवगण हमें निरन्तर सुख वितरित करें ।

देवाः ! शतन्नु शरदां मनुजाधिकारे
यत्रैव हन्त जरसं वपुषामकार्षुः ।
पुत्रा भवन्ति पितरोऽत्र ततो नु मध्ये
सम्प्रार्थये न जुहुयुर्मम जीवयात्राम् ॥४४॥

हे देवगण ! मनुष्यों के अधिकार में (आयुष्य के मात्र) सौ वर्ष हैं । दुःख की बात है कि उसी अवधि में शरीरों का वार्द्धक्य भी अवश्यम्भावी है और उसी अवधि में पुत्रगण स्वयं भी पितृगण बन जाते हैं । अतएव मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि मेरी प्राणयात्रा को बीच में ही खण्डित न कर देना ।

जीवेम हायनशतं ससुखं समोदं
पश्येम हायनशतं युगलोचनाभ्याम् ।

धीरा वदेम शृणुयाम तथा श्रुतिभ्यां
वृन्दारकाः! ननु भवेम सदाऽप्यदीनाः ॥४५॥

हम सुख एवं प्रसन्नतापूर्वक सौ वर्ष तक जियें। हम नेत्रद्वय से सौ वर्षों तक देखें। हम धीर बन कर बोलें तथा कानों से सुने। हे देवगण! हम सदैव दैन्य-रहित बने रहें।

वाणी समा भवतु साधु समश्च मंत्रो
यात्रा समा भवतु साधु समञ्च तन्त्रम्।
तुल्यानि सन्तु सुमनांसि मतिश्च तुल्या
देवाः! भवेच्च समितिर्नितरां समानी ॥४६॥

हमारी वाणी सम्यक् रूप से एक जैसी हो, हमारे विचार एक जैसे हों, हमारी यात्रा एक जैसी हो, हमारे उपाय एक जैसे हों। हमारे मन एक समान हों। हमारी बुद्धि समान हो। हे देवगण! हमारी संसद भी सदैव एकमत हो।

विश्वानि देव! सवितर्दुरितानि तानि
चण्डैर्मयूखनिकरैर्जुहुयात् क्षणम्मे।
भद्राणि यानि सुखमङ्गलसाधनानि-
तन्वीत तानि भगवन् सततोपकारिन् ॥४७॥

हे देव सविता! हमारे समस्त प्रकाशित दुरितों (पापों) को आप (अपनी) प्रचण्ड किरन-समूह से क्षण भर में ही भस्म कर दें। जो भी कल्याणकारी सुख एवं मंगल के साधन हों, निरन्तर उपकार करने वाले हे प्रभो! उन्हें प्रगम्त करें।

एवंधियस्सुचरिता मनुजाः प्रविज्ञाः
कार्तज्ञ्यभारनमिता विदधुर्नमस्याम्।
अक्रोधसत्यधृतिधीन्द्रियशोषशौच
विद्याक्षमादमपराः श्रितधर्मतत्त्वाः ॥४८॥

इस प्रकार की (देवाराधन-परायण) बुद्धि वाले, कृतज्ञता के भार से अव-नमित, अतिशय विज्ञ, अक्रोध-सत्य-धृति-बुद्धि-इन्द्रियनिग्रह-शुचिता-विद्या (विवेक)

क्षमा तथा दम (आत्मनियन्त्रण) के पालक, धर्मतत्त्वपारग मनुष्य देवों की (नित्य) पूजा किया करते थे।

विद्या सुरैः प्रवितता भुवि मुक्तिहेतु-
र्ज्ञानाय तत्त्वविगमाय तपोऽर्जनाय।
तौर्यत्रिकञ्च विततं जनतोपकृत्यै
सद्यःप्रसूतपरिनिर्वृतये समेषाम् ॥४९॥

देवताओं के द्वारा भूमण्डल में तत्त्व-मीमांसा एवं ज्ञान के लिये तथा तप-संग्रहार्थ मुक्तिदात्री विद्या का विस्तार किया गया (इसी प्रकार) जनता के मनो-रञ्जनार्थ तथा सब लोगों की तात्कालिक परिनिर्वृति (आनन्द) के लिये तौर्यत्रिक (नृत्य, गीत एवं वाद्य) का प्रकाशन किया गया।

ब्रह्मा स्वयं रचितवान् नवनाट्यवेदं
लास्यं शिवा नटपतिः किल ताण्डवीयम्।
प्रावोचतामगदतन्त्रमुभौ कुमारौ
इन्द्रश्चकार प्रथमं खलु शब्दशास्त्रम् ॥५०॥

प्रजापति ब्रह्मा ने स्वयं अभिनव (अर्थात् पाँचवे) नाट्यवेद का प्रणयन किया। देवी पार्वती ने लास्य (कोमल नृत्य) तथा नटराज शिव ने ताण्डव (उद्धत नृत्य) का आविष्कार किया। दोनों अश्विनीकुमारों ने (मर्त्यलोक के कल्याणार्थ) अगदतंत्र (भैषज्य) का प्रवचन किया। स्वयं देवराज इन्द्र ने प्रथम शब्दशास्त्र (व्याकरण) का निर्माण किया।

आराध्य देवनिचयं ह्यपरेऽपि विज्ञाः
प्रक्रान्तदृष्टिमहिता ऋषयो बहुज्ञाः।
शास्त्राणि चक्रुरमितानि महोदयानि
तत्त्वानुशोधनपराणि वसुन्धरायाम् ॥५१॥

(अपनी) क्रान्तदर्शी प्रतिभा के कारण लोकपूजित अन्यान्य ज्ञानसम्पन्न तथा बहुज्ञ ऋषियों ने भी देवमण्डली की आराधना कर (उनकी कृपा से प्राप्त) तत्त्वा-

नुशोधन अर्थात् रहस्य-प्रकाशन से युक्त तथा महान् अभ्युदय दे सकने में समर्थ अनन्त शास्त्रों का भूमण्डल में विस्तार दिया।

नीत्वाऽवधिं सुविपुलं श्रितविप्रयोगा
दिष्ट्या पुनः समुपगम्य च कान्तमिन्द्रम्।
रेजे द्युसिन्धुवसनाऽप्यमरावतीऽसा-
वुत्कण्ठितेव दयिता दयितानुरक्ता॥५२॥

विरहव्यथा को भोगने वाली अपने दयित (देवराज इन्द्र) में अनुरक्त, उत्कण्ठा से परिपूर्ण तथा आकाशगंगारूपी वस्त्रों वाली वह अमरावती पुरी, अत्यन्त विशाल (वलि का शासनकाल) वियोगावधि को पार कर, सौभाग्यवश पुनः अपने कान्त पुरन्दर से संगत होकर सुशोभित हो उठी—जैसे अपने प्रियतम में अनुरक्त, आकाशगंगा के समान धवल वस्त्रों को धारण करने वाली कोई वियोगव्यथावसक्त उत्कण्ठिता नायिका, विरह की लम्बी अवधि को पार कर सौभाग्यवश इन्द्र सरीखे अपने प्रियतम को पुनः प्राप्त कर आह्लादित हो उठे।

सौधध्वजावलिकरम्बितरोमहर्षा
प्राकारमञ्जुजघना परिखासुकाञ्ची।
आवल्गुतोरणवराङ्गवतीन्द्रचाप-
प्रेष्ठावगुण्ठनमयी शुशुभे पुरी सा॥५३॥

राजप्रसादों पर स्थापित ध्वजसमूह रूपी रोमाञ्च वाली, प्राकार (नगर का रक्षाभित्ति, परकोटा) रूपी रमणीय जघन-प्रान्त वाली, परिखारूपी करधनी से युक्त, अत्यन्त हृद्य तोरणरूपी वराङ्ग वाली तथा इन्द्रधनुष रूपी मनोरम अवगुण्ठन (घूंघट) से अलंकृत वह (अमरावती अलंकृता वधूटी जैसी) सुशोभित हो उठी।

सर्वर्तुमङ्गलविलाससुखं दधानं
तन्नन्दनं स्मरवनं न ननन्द कांस्कान्?
आनन्दमोदतटिनीसततप्रवाहैः
कान्नाचकर्ष नितरां दिवि वैजयन्तः??५४॥

समस्त ऋतुओं के अनुकूल (विविध) मंगलमय विलाससुख को धारण करने वाला वह कामदेवायतनभूत नन्दनवन (अब भला) किन-किन लोगों को आह्लादित नहीं करता था ? राजप्रासाद वैजयन्त भी (अपने) आनन्द एवं आमोद रूपी सरिता के अविच्छिन्न प्रवाहों से किन (दर्शकों) को, स्वर्गलोक में निरन्तर आकृष्ट नहीं करता था ?

विच्छेदमाप सरणिर्न महोत्सवानां
राज्याभिषेकदिवसात्प्रथिता मघोनः ।
चञ्चन्मृगाङ्कविशदास्वथ यामिनीषु
गान्धर्ववैभमुवाह सुरेन्द्रसौधः ॥५५॥

देवराज इन्द्र के राज्याभिषेक-दिवस से प्रवर्तित (प्रारम्भ) होने वाली महोत्सवों की परम्परा (कभी) विच्छिन्न नहीं हुई अर्थात् निरन्तर चलती ही रही । देदीप्यमान चन्द्रमा (की चाँदनी) से धवलित रातों में देवराज इन्द्र का राजमहल (वैजयन्त) गन्धर्व-वैभव अर्थात् संगीत-महोत्सव को (नित्य) धारण करता रहा ।

गन्धर्वकिन्नरमहोरगसिद्धयक्ष-
विद्याधराश्च पितरोऽप्सरसां निकायः ।
स्वर्गस्थिताश्च सुरराजमहर्षिसंघा
नित्यं रसायनमिदं पपुरम्बकाभ्याम् ॥५६॥

गन्धर्व, किन्नर, श्रेष्ठ नागगण, सिद्ध, यक्ष, विद्याधर, पितर, अप्सराएँ तथा स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं, राजर्षियों तथा महर्षियों के समूह नित्यप्रति ही इस (संगीत) रसायन को नेत्रों से पिया करते थे ।

धित्तां धित्तां धिधित्तां धिगिति धिगिति धिग्धांधधांधां धुधुःधुः
ध्रंध्रंङ्कारैर्मृदङ्गे नदति सुरसमामण्डपे तत्समानम् ।
पादाऽघातप्रभङ्गप्रचलपदगतिक्षुब्धमञ्जीरभाजां
मेनारम्भोर्वशीनां मुरजरवहरं नर्तनं प्रादुरासीत् ॥५७॥

देवसभा के मण्डप में 'धिक्तां-धिक्तां-धिधिक्तां-धिगिति-धिगिति-धिग्-धांधधांधां-धुधुःधुः—ध्रैंध्रैम्' की थाप (ध्वनि) के साथ मृदङ्ग के बजते ही, उसी की संगत पर, चरणों के आघात-प्रकारों से चञ्चल हो उठी पदगति से मुखर नूपुरों वाली मेनका, रम्भा तथा उर्वशी (सरीखी देवनर्तकियों) का, मृदंग की ताल का अनुकरण करने वाला नृत्य प्रारम्भ हो उठता था।

मामामामागरेसानिधपनिधपनीनीगरेसेति नादं
तंत्रीतंत्रैर्वितन्वन् स्वरलयलहरीं तुम्बुरुश्चापिरेजे।
हाहा हूहू सुकण्ठौ जगतुरतिकलं रागिनीरागभेदान्
नित्यं गान्धर्वसिन्धूच्छलितरससुधां देववृन्दं सिषेवे ॥५८॥

(ठीक उसी समय) 'मामामा-गरेसा-निधपनिधप-नीनी-गरेसा' इस प्रकार की (वाद्य) ध्वनि तथा स्वरों (मध्यम, गान्धार आदि) की लयलहरी को वीणा के तारों से प्रकट करता (महान् वीणावादक गन्धर्वराज) तुम्बुरु भी सुशोभित हो उठता था। सुरीले कण्ठ वाले (गायक-बन्धु) हाहा तथा हूहू अत्यन्त मनोरम राग-रागिनियों के भेदों का गायन करते थे। इस प्रकार देवमण्डली, नित्य ही संगीत-सागर में समुच्छलित आनन्दरूपी अमृत का सेवन करती थी।

एवं पूर्तिमगादियं हरिकथा माङ्गल्यविस्तारिणो
श्रीमद्भागवतामृतं नु दधती प्रत्यक्षरं साग्रहम्।
पाराशर्यपदाम्बुजाऽमृतचये तस्मान्निबद्धाधरः
प्रत्यग्रामधमर्णतां प्रतनुते माद्यद्द्विरेफः कविः ॥५९॥

श्रीमद्भागवत पुराण के अमृत को निश्चय ही आग्रहपूर्वक (अपने) प्रत्येक अक्षर में धारण करती हुई, माङ्गल्य-विस्तार करने वाली यह हरिकथा इस प्रकार, पूर्णता को प्राप्त हुई। इसलिये, भगवान् पराशरपुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास के चरणकमल-सञ्चित अमृत-चय के प्रति अतिशय समासक्त, मदमत्त मधुकर के समान यह कवि (राजेन्द्र मिश्र) उनके प्रति अपनी प्रत्यग्र (सद्योजात) अधमर्णता (ऋणी होने का भाव) को ख्यापित कर रहा है।

नेता चात्र शचीपतिर्दिविषदां धुर्यो महिम्ना हरेः
धीरोदात्तगुणस्त्रिलोकधुरियो भूयः प्रतिष्ठापितः ।
साम्राज्याधिगमार्थसिद्धिमहितं काव्यस्य रम्यं फलं
शान्तोऽङ्गी रस आसुरीं प्रशमयन् वार्तामृतध्वंसिनीम् ॥६०॥

इस महाकाव्य में नायक हैं देवमण्डली के नेता तथा धीरोदात्त नायक के गुणों वाले शचीपति इन्द्र जो कि भगवान् वामन की महिमा (कृपा) से, त्रैलोक्य के शासनाधिकार में पुनः प्रतिष्ठापित किये गये। अर्थ पुरुषार्थ की सिद्धि से अलंकृत (शत्रुओं द्वारा अपहृत) साम्राज्य की प्राप्ति ही महाकाव्य का रमणीय फल है तथा ऋत को विध्वस्त करने वाली आसुरी-वृत्ति को पूर्णतः प्रशमित करता हुआ शान्त रस ही (इस महाकाव्य का) अंगी रस है।

प्रारब्धेयमुदारकीर्तिमहिता पूर्वं कथा पावनी
या दुर्भाग्यवशादशाकि न मयाऽऽनेतुं प्रपूर्तिं तदा ।
सेदानीं वसताऽभिराजकविना द्वीपेऽत्र बाल्याह्वये
द्वीपाधीश्वरशम्भ्वचिन्त्यकृपया निर्विघ्नमापूर्यते ॥६१॥

(भगवान् त्रिविक्रम के) उदार यश से अलंकृत, पहले कभी प्रारम्भ की गई, यह पवित्रकथा जो कि उस समय, दुर्भाग्यवश मेरे द्वारा परिपूर्णता के बिन्दु तक नहीं लाई जा सकी वही (कथा) सम्प्रति, यहाँ 'बाली' नामक द्वीप में निवास करते हुए अभिराजकवि द्वारा, द्वीपाधीश्वर भगवान् अचिन्त्य (= अतिन्तिय) शम्भु की कृपा से निर्विघ्न रूप से पूर्ण की जा रही है।

सन्दानितकम्

सिन्धुवेदखनेत्राख्ये वैक्रमे गुरुवासरे ।
कार्त्तिके वदि दर्शाह्नि भारते दीपपर्वणि ॥६२॥

विक्रम-संवत्सर सिन्धु (=४) वेद (=४) ख अर्थात् आकाश (=शून्य) तथा नेत्र (=२) अर्थात् २०४४ में (तदनुसार सन् १९८७ ई०) कार्तिक वदि अमावस्या, गुरुवार के दिन (जिस दिन) भारतवर्ष में दीपावली पर्व होने पर।

प्रशान्तसागरोल्लोलकल्लोलस्पर्शमेदुरे ।
राजधानीपदारूढे डेन्पसारपुरेऽमले ॥६३॥

प्रशान्त महासागर के समुच्छलित कल्लोलों के संस्पर्श से पुलकित (वालीद्वीप की) राजधानी के पद पर अभिषिक्त, इस मनोरम डेन्पसार (धर्मप्रसार) नामक नगर में।

रम्ये धर्मवनिताख्ये निलये दक्षिणामुखे।
पूर्तिमेति महाकाव्यं शान्तशान्ते निशामुखे ॥६४॥

(स्थित) दक्षिणमुख (इस) रमणीय 'धर्मवनिता' नामक अत्यन्त शान्त निवास-भवन में, सन्ध्यावेला में महाकाव्य पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

कविं काव्यं कवित्वञ्च रसिकं काव्यमर्मगम्।
तुरीयं बिभ्रती रूपं शारदा दयताम्मयि ॥६५॥

कवि, काव्य, कवित्व तथा काव्यमर्मज्ञ रसिक (सहृदय) इस चतुर्विध रूप को (एकमात्र स्वयं) धारण करने वाली भगवती सरस्वती, मेरे प्रति करुणामयी हो (बस यही कामना है)।

यं देवी सुषुवे कवित्वशिखरं दुर्गाप्रसादान्निजे
क्रोडे शुक्तिनिभे विमौक्तिकतनुं वन्द्याऽभिराजी सुतम्।
श्रीदेवेन्द्रसुरेन्द्रमध्यममणो राजेन्द्रमिश्रो न्वसौ
हृत्तुष्ट्यै तनुते त्रिविक्रमयशो गीर्वाणवाण्याऽनघम् ॥६६॥

वन्दनीया देवी अभिराजी ने सीपी जैसी अपनी कोख में मोती जैसे व्यक्तित्व वाले, कवित्वशिखरभूत जिस पुत्र को, दुर्गाप्रसाद के अंश से जन्म दिया श्री देवेन्द्र (अग्रज) तथा सुरेन्द्र (अनुज) के बीच मध्यमणि-सरीखा वही राजेन्द्रमिश्र अपने हार्दिक परितोष के लिये, भगवान् त्रिविक्रम का निष्कलंक यश, देववाणी संस्कृत में गा रहा है।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥६७॥

कविकुलगुरु कालिदास की कविता ही जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी तना है, जयदेव की कविता पर्णसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ पुष्प हैं तथा महामहिम पण्डितराज के काव्य की गरिमा ही जिसका अत्यन्त पवित्र फल है, अभिराजराजेन्द्र-रूपी वह निसर्गजात काव्यतरु चिरजीवी हो ।

॥ इति श्रीगौतमगोत्रीयभभयाख्यमिश्रवंशावतंसेन दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनुना ॥
त्रिवेणीकविनाऽभिराजराजेन्द्रेण विरचिते वामनावतरणाख्ये महाकाव्ये
देवसाम्राज्याभिधः सप्तदशः सर्गः ।

• •